प्रकाशक

सन्मति ज्ञान पीठ

लोहामण्डी आगरा।

सन् १९६१

द्वितीय संस्करण

मूल्य २) दो रुपये

मुद्रक :

प्रेम प्रिंटिंग प्रेस,

राजामण्डी—आगरा

सम्पादकीय

"सतीजी ! क्या यही जैनियों की अहिंसा है ?" महात्मा गांधीजी ने महासती जी उज्ज्वलकुमारी जी से कहा।

"यह बात अहमदाबाद की है, उस समय मैं वहीं था, जब कांकरिया तालाब का पानी सूखता चला जा रहा था। तालाब में रही हुई मछलियाँ पानी के अभाव में कहीं तड़प-तड़प कर मर न जायँ, इसके लिये जैनी लोग प्रतिदिन पानी के घड़े भर कर ले जाते और उस तालाब में उंडेल देते थे। इस तरह वे मछलियों की दया पालते थे। परन्तु दूसरी तरफ वे ही अधिक व्याज व मुनाफा लेकर मनुष्यों का शोषण करने में भी हिचकिचाते नहीं थे।"

"तो, क्या यही जैनियों की अहिंसा है" ? गांधीजी ने सतीजी से पूछा।

महात्माजी जैसे तटस्थ विचारक का भी जैनियों की अहिंसा के प्रति कैसा खयाल था, यह इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है। हालांकि इसमें सत्यांश भी काफी रहा हुआ है।

सतीजी ने कहा—"आजकल जैनियों की अहिंसा चाहे जैसी हो, पर, भगवान महावीर की अहिंसा का यह स्वरूप नहीं है। वह अहिंसा तो इतनी विशाल है कि उसमें छोटे से छोटे जन्तु से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक की अहिंसा का विधान है। सतीजी से उस शास्त्र-सम्मत अहिंसा का विवेचन सुनकर गांधीजी बड़े प्रसन्न हुए।

यद्यपि उस समय समयाभाव से अन्य व्रतों का विस्तृत विवेचन गांधीजी के समक्ष नहीं हो सका था, परन्तु जो विचारधारा उस समय

आरंभ हुई थी, वही इन व्रतों के प्रवचनों में प्रस्तुत की गई है। पाठक उसे पढ़ेंगे तो स्थान-स्थान पर व्रतों के विवेचन में वे नवीनता का ही अनुभव करेंगे।

सतीजी की प्रवचन-शैली अनूठी है। वे अपना विषय इस खूबी से स्पष्ट करती हैं कि उनका एक-एक वोल श्रोताओं के दिलों पर गहरा प्रभाव डाले विना नहीं रहता। सचमुच वे हमारे समाज की एक युग-दृष्टिसम्पन्न विदुषी साध्वी हैं, जिनकी वाणी में तेज है और व्यक्तित्व उनका निखरा हुआ है।

जैन समाज की यही एक साध्वीरत्न हैं, जिनसे प्रभावित हो महात्मा गांधीजी ने भी वम्वई में लगातार उन्नीस दिन तक वार्तालाप किया था। सतीजी का यह वार्तालाप भी 'गांधी उज्ज्वल वार्तालाप' के नाम से अभी प्रकाशित हो चुका है।

समाज की यह विदुषी साध्वी आज नेत्र-पीड़ा से ग्रस्त हैं। वर्षों से एक आँख तो विल्कुल चली गई है, दूसरी आँख में भी फुंसियाँ होती हैं और मिटती हैं, फिर उठ जाती हैं और मिट जाती है, इस प्रकार यह क्रम चलता ही रहता है। पढ़ना-लिखना तो वर्षों से वंद है, पर अब तो प्रवचन देना भी वंद-सा ही है। आँख इसकी इजाजत भी नहीं देती। समाज का अपना भाग्य। और क्या कहें ?

सन्मति ज्ञान-पीठ आगरा प्रकाशन के क्षेत्र में अपने जो द्रुतगामी कदम वढ़ा रहा है, निस्सन्देह यह उसका साहस ही है।

समाज उसके इस सत्साहस की कद्र करे, वस, इसी शुभ भावना के साथ—

रत्नकुमार जैन 'रत्नेश'

श्रावक-धर्म की
साधना के पथ पर
अग्रसर होने वाले
भाइयों और बहनों
की
सेवा में

…"एस ट्ठाणे आरिए
…जाव…
सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे
एगंत-सम्मे
साहू।"

—सूत्र कृतांग २, १८,४४

श्रावक-धर्म

१
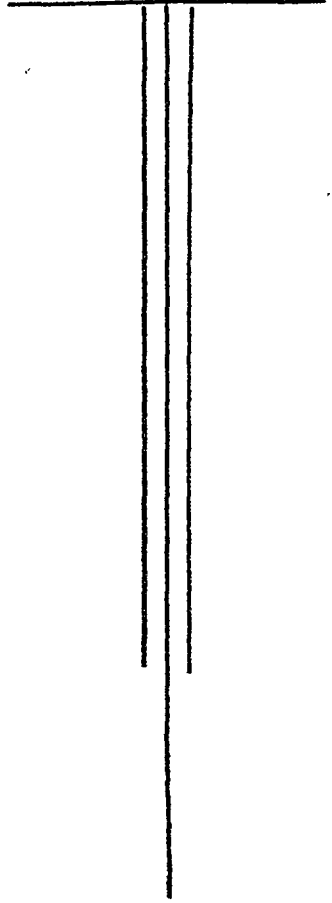
अहिंसा-व्रत

जैसे नदी के प्रवाह को मर्यादित रखने के लिये दो किनारों की आवश्यकता होती है, वैसे ही जीवन के प्रवाह को शुद्ध और सरल बनाने के लिये व्रतों की आवश्यकता है। नदी अगर यह कहे कि 'मुझे दो किनारों का बंधन नहीं चाहिये, मैं तो स्वतंत्र होकर बहूँगी तो उसका पानी इतस्ततः छिन्न-भिन्न हो जायगा। यही हाल मानव-जीवन का भी है। मनुष्य पर व्रतों का बंधन नहीं रहेगा, तो उसकी जीवन-शक्ति भी तितर-बितर होकर क्षीण हो जायगी। अतः जीवन-शक्ति को केन्द्रित कर योग्य दिशा में उसका उपयोग करने के लिये व्रतों की अनिवार्य आवश्यकता है।

भगवान् महावीर ने बारह व्रत बताये हैं। उसमें सबसे पहला व्रत अहिंसा का है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि—

> सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं।
> तम्हा पाणीवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥

अर्थात्—सभी प्राणियों को जीवन प्रिय होता है और मरण अप्रिय। अतः साधक पुरुषों द्वारा प्राणी-वध नहीं किया जाना चाहिये, क्योंकि यह भयंकर पाप है।

हिंसा की व्याख्या करते हुए आचार्य उमास्वाति कहते हैं कि—'प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपणं हिंसा' अर्थात् प्रमत्तयोग से प्राणों का नाश करना हिंसा है। प्रमत्तयोग अर्थात् राग-द्वेष से की गई प्रवृत्ति हिंसा होती है।

सब प्राणियों को अपने कर्मानुसार रक्षा करने के लिये नाखून, खाने के लिये दाँत और डाढ़, देखने के लिये नेत्र, सुनने के लिये कान, सूंघने के लिये नाक, चखने के लिये जीभ आदि अंगोपांग मिले हुए हैं। इन अंगोपांग को छीन लेने का अधिकार मनुष्य को नहीं है। जो मनुष्य एक नाचीज मक्खी की पांख भी नहीं बना सकता है, उसे उसको मारने का क्या अधिकार है?

परन्तु स्वार्थांध बना हुआ मनुष्य कुछ विचार नहीं कर सकता है। मांसाहार करने वाले कई बार यह दलील करते हैं कि 'ये सभी पशु-पक्षी किसके लिये उत्पन्न किये गये हैं? ईश्वर ने इन्हें मनुष्यों के लिये ही उत्पन्न किया है।' ऐसा कहने वालों से अगर सिंह यह कहे कि 'ईश्वर ने मनुष्यों का सृजन मेरी खुराक के लिये ही किया है' तो कहिये लोग इसका क्या जवाब दे सकेंगे?

इस दलील में और कोई तथ्य नहीं है। उसमें केवल स्वार्थ और स्वादलोलुपता ही है। जैसा जीव मनुष्य में है, वैसा ही जीव पशु पक्षियों में भी है। जैसे मनुष्य यह नहीं चाहता कि सिंह या बाघ उसको अपना आहार बना ले, वैसे ही मनुष्य को भी चाहिये कि वह अपने खाने के लिये पशु-पक्षियों का उपयोग न करें।

हां, यह सच है कि मनुष्य में एक विशिष्ट प्रकार की बुद्धि है, जो कि पशु-पक्षियों में नहीं है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं,

कि वह इसका उपयोग पशु-पक्षियों को पकड़ने में, मारने में और खाने में करें। ऐसा करना तो बुद्धि का दुरुपयोग ही कहा जायेगा। अतः उसे अपनी बुद्धि का सदुपयोग सब की रक्षा करने में ही करना चाहिये।

जैसे मानव को अपना जीवन-प्रिय है, वैसे पशु-पक्षियों और छोटे-छोटे जीवों को भी अपना जीवन प्रिय होता है। अतः जीव हिंसा से दूर रहना चाहिये। अहिंसा आध्यात्मिक जीवन की आत्मा है—नींव है। इसीलिये बारह व्रतों में उसे सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। भगवान् महावीर के शब्दों में कहें, तो अहिंसा भगवती है। विना भगवती की शरण में आये साधक पुरुष अपना विकास नहीं कर सकता है।

सब व्रतों में अहिंसा व्रत जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही उसका पालन दुष्कर है। महात्माजी के शब्दों में कहें तो 'अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है, उतना ही वह सकडा भी है। यह मार्ग खांडे की धार पर चलने जैसा है। नट, जिस रस्सी पर एक नजर रख चलते हैं, उससे भी सत्य-अहिंसा की यह रस्सी पतली है। थोड़ी भी असावधानी रही कि धड़ाम से नीचे जा गिरे। उसके दर्शन तो प्रतिक्षण उसकी साधना करने से ही हो सकते हैं।'

किसी को भी नहीं मारना—इसका समावेश तो अहिंसा में होता ही है, परन्तु कुविचारों को नहीं छोड़ना भी हिंसा है। किसी का बुरा चाहना, जो वस्तु दूसरों को चाहिये उस पर अपना अधिकार जमाये रखना भी हिंसा है।

अहिंसा के पालन से ही सच्ची शान्ति प्राप्त की जा सकती है। हिंसा से कभी शान्ति नहीं मिल सकती। अंग्रेज लेखक

ल्युथर ने कहा है कि—Nothing good ever comes of violence अर्थात्–हिंसा में से कभी अच्छा परिणाम निकलने वाला नहीं है। एक दूसरे अनुभवी ने लिखा है कि–The violence done to us by others is often less painful than that which we do to others. अर्थात् हम दूसरों को कष्ट देते हैं, उसके बदले अगर वे हमें कष्ट दें, तो यह उतना दुःखदायी नहीं होता है, जितना कि हम दूसरों को देते हैं। हम दूसरों को अधिक कष्ट देते हैं, जब कि दूसरों की तरफ से हमें बहुत कम कष्ट दिया जाता है। इस वक्रोक्ति में रहस्य यह है कि अपनी तरफ से किसी को दुःख न पहुँचे, इसकी हमें सावधानी रखनी चाहिये। दूसरे शब्दों में कहें, तो खुद सहन करना और दूसरों को न सताना, यही सबका ध्येय होना चाहिये। इसी का नाम अहिंसा है।

दया, करुणा, अनुकम्पा, सेवा, प्रेम, मैत्री आदि सभी अहिंसा के ही स्वरूप हैं। दयालु-हृदय नन्दनवन की तरह होता है। जैसा कि कहा भी है—Paradise is open to all kind hearts. दयालु-हृदय के लिये स्वर्ग के द्वार खुले ही होते हैं। निष्ठुर-हृदय के बादशाह से एक दयालु हृदय का कंगाल अधिक बढ़ा-चढ़ा होता है। यही बात टेनीसन ने भी कही है कि–Kind hearts are more than coronets. एक दूसरे विद्वान् ने भी कहा है कि Kindness is the golden chain by which society is bound together. अर्थात् दया की स्वर्ण जंजीर समाज को संगठित रखने के लिये है। बायरन के शब्दों में कहें तो–The drying up a single tear has more of honest fame than shedding ceas of gore. अर्थात—

युद्ध में खून को नदियाँ बहा देने वाले विजेता से वह साधारण मनुष्य, जो दुखी मानव का आंसू पोंछता है, अधिक प्रशंसा का पात्र है। अतः अहिंसा के साथ-साथ दया और मैत्री की भी आराधना करनी चाहिये।

दया से जीवन उन्नत बनाया जा सकता है। एक समय की बात है, एक जंगल में आग लग गई। सभी पशु-पक्षी उससे बचने के लिये इधर-उधर दौड़ रहे थे। उस जंगल में एक हाथी भी अपने झुण्ड के साथ रहता था। आग से बचने के लिये उसने अपने झुण्ड के साथ मिल कर एक योजन अर्थात् चार कोस का मैदान साफ कर डाला। जहाँ एक सूखी घास का तिनका भी न रहा, वहाँ अब आग लगने का डर नहीं था। अतः भागे हुए पशु वहाँ आकर इकट्ठे होने लगे। हाथी ने तो अपने समुदाय की रक्षा के लिये ही यह मैदान साफ किया था, परन्तु फिर भी उदार भाव से उसने अन्य प्राणियों को भी वहाँ आश्रय दिया। मैदान पशुओं से सारा भर गया था। कहीं पांव रखने की भी जगह न रही। इतने में एक खरगोश वहाँ आ पहुँचा। पर जगह कहाँ? इतने ही में नायक हाथी ने अपना एक पाँव शरीर खुजलाने के लिये ऊपर उठाया। खरगोश ने पाँव के नीचे की जगह खाली देखी, तो तुरन्त वहाँ आकर बैठ गया। हाथी ने अपना पाँव नीचा किया, तो उसे मालूम हुआ कि यहाँ भी कोई प्राणी आकर बैठ गया है। अतः उसने अपना पाँव पुनः ऊपर उठा लिया और तीन पैर से ही खड़ा रहा।

जंगल की दावाग्नि तीन दिनों बाद शान्त हुई। उस दिन तक हाथी ने अपना पाँव ऊपर ही उठाये रखा। अग्नि के शान्त हो जाने पर वहाँ के सभी प्राणी धीरे-धीरे बाहर निकलने लगे।

उस खरगोश के चले जाने पर हाथी ने भी अपना पाँव जमीन पर रखने के लिये नीचा किया। परन्तु लगातार तीन रोज तक इस तरह खड़े रहने से उसकी नसें तन गईं थीं अतः धड़ाम से नीचे गिर पड़ा और तत्काल ही मृत्यु को प्राप्त हो गया।

यही हाथी का जीव मगध राजा श्रेणिक के यहाँ मेघकुमार के नाम से उत्पन्न हुआ। अनुकम्पा, करुणा, दया या अहिंसा का ही प्रताप है, कि एक हाथी का जीव मर कर राजकुमार बना।

हाथी जैसा प्राणी भी अपने जीवन की परवाह न कर इतनी दया पाल सकता है, तो संस्कारी मानव से विशेष आशा रखना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

हाथी का यह आदर्श दृष्टान्त आज के श्रीमन्तों को याद रखने जैसा है। हाथी जैसे पशु के पास अन्य कोई ऐसा बाह्य साधन नहीं होता है कि जिससे वह दूसरों की मदद कर सके। फिर भी उसने अपने शरीर-बल का उपयोग कर चार कोस की जमीन पशु-पक्षियों के रक्षण के लिये साफ कर दी–उपद्रव रहित बना दी। तब कहिये, आज के श्रीमन्त जिनके पास अखूट द्रव्य और आय के भी अनेकों साधन हैं, वे चाहें तो अपने तन, मन, धन और द्रव्य—साधन सामग्रियों का कितना सदुपयोग कर सकते हैं?

हाथी जितना करुणाभाव भी आज के श्रीमन्तों में आ जाय, तो संसार की विषमता दूर होने में देर न लगे। विषमता दूर होने पर सब मनुष्य अपना जीवन सुख से व्यतीत कर सकते हैं। फिर किसी को भी अपने जीवन निर्वाह के लिये अनीति का सहारा न लेना पड़े, न असत्य बोलना पड़े, और न किसी

का शोषण ही करना पड़े। ऐसा करने से ही दोनों को अर्थात् श्रीमन्तों और गरीबों का श्रेय निहित है।

विशेष भोग देने की बात तो दूर रही, श्रीमन्त अपने मकान की छाया का उपयोग ही गरीबों को करने दें, तो इससे उन्हें काफी राहत मिल सकती है। बचा हुआ अन्न, फटे हुए वस्त्र और काम में न आने वाली अन्य वस्तुएँ गरीबों को दे दी जाय, तो यही उनके लिये रेगिस्तान में पानी की नहर सिद्ध होगी। श्रीमन्तों के लिये तो यह बढ़े हुए नखों और बालों को काट डालने जैसी सामान्य बात ही कही जायगी।

किसी-किसी स्थान पर तो बिल्कुल विपरीत स्थिति दिखाई पड़ती है। अपने कुए में से कोई गरीब पानी भरने आता है, तो उसे चौकीदार द्वारा धमकाया जाता है। कुए के पानी का भी यह हाल है, तो नल के पानी की तो बात ही कहाँ रही ? ऐसी संकुचित मनोवृत्ति वालों के लिये मेघकुमार के हाथी के भव की अनुकम्पा, उदारता और स्वार्थ त्याग की भावना शिक्षाप्रद है।

हमारे पूज्य गुरुदेव इन सब व्रतों की बड़ी व्यापक और सुन्दर व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि 'मन, वचन और काया की कोई भी प्रवृत्ति करने से पूर्व उसके भावी परिणाम का विवेक-मय विचार करना अहिंसा है। अहिंसा का उपासक व्यापार करने से पूर्व यह विचार कर लेता है कि मेरा व्यापार शोषक है या पोषक ? जिस व्यापार से दूसरे की आजीविका छिन जाती हो, हिंसा का आधार लेना पड़ता हो, तो ऐसे व्यापार से अहिंसक व्यक्ति अलग ही रहता है। वह अपने जीवन की हर एक प्रवृत्ति को इसी कसौटी पर कस कर देखता है। इसका आचार, विचार और उच्चार अहिंसामय ही होता है।'

जैन लोग जलाने के लिये लकड़ी या कंडों का उपयोग भी देख कर करते हैं। चूल्हा, सिगड़ी, चक्की आदि को भी साफ कर उपयोग में लाते हैं। शाक-भाजी को भी बारीकी से देखकर पकाते हैं। इस प्रकार लट, कीड़ी आदि जीवों की रक्षा करने के लिये इतनी सावधानी रखते हैं। वनस्पति के जीवों की रक्षा करने के लिये वे अमुक हरी शाक-भाजी का भी त्याग कर देते हैं। एक लट को मारने के लिये यदि कोई उसे पाँच लाख रुपया भी दे, तो वह उन्हें लेकर लट को मारने के लिये तैयार नहीं होगा। इस प्रकार अहिंसा के पालन में जैन लोग इतनी अधिक सावधानी रखते हैं, फिर भी प्रश्न यह है कि उनकी अहिंसा में तेजस्विता क्यों नहीं है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि वे अहिंसा का व्यापक अर्थ समझे नहीं हैं। अहिंसा के दो प्रकार हैं—एक निषेधात्मक अहिंसा और दूसरी विधेयात्मक अहिंसा। किसी भी जीव को कष्ट नहीं देना, निषेधात्मक अहिंसा है और पीड़ितों का दुःख दूर करना, यह विधेयात्मक अहिंसा है। जैसे किसी को कष्ट देना हिंसा है, वैसे ही शक्ति होने पर पीड़ितों का दुख दूर न करना भी हिंसा है। एक मनुष्य भूख से तड़फड़ा रहा हो, और आपके पास बचा हुआ भोजन पड़ा हो, फिर भी आप उसकी भूख शान्त न करें, तो अहिंसा का पालन कैसे किया जा सकता है? एक मनुष्य कपड़े के विना ठंड से थरथर काँप रहा है, आपके पास वस्त्रों की पेटियाँ भरी पड़ी हैं, आप चाहें तो उसे वस्त्र देकर उसका कष्ट निवारण कर सकते हैं, फिर भी आप उसके प्रति उपेक्षा रखें, तो ऐसी हालत में आप अहिंसक कैसे कहे जा सकते हैं? एक बीमार मनुष्य की सेवा करने के लिये आपके पास समय और सामर्थ्य भी है, फिर भी आप उसकी सेवा न करें तो

समझ लेना चाहिये, कि अभी आपके जीवन में अहिंसा पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हुई है। ज्ञान होने पर अगर आप दूसरों का अज्ञान दूर नहीं करते हैं, तो समझ लेना चाहिये कि अभी हम अहिंसा का विधेयात्मक रूप समझे ही नहीं। बिजली के भी दो तार होते हैं—नेगेटिव और पोजेटिव। ये दोनों जब शामिल होते हैं, तभी बिजली प्रकाश देती है। इसी प्रकार जीवन में भी जब अहिंसा के दोनों प्रकाशों का निषेधात्मक और विधेयात्मक रूपों का संगम होता है, तभी वह अहिंसा सजीव होकर तेजस्वी बन सकती है।

मैत्री, अहिंसा का विधेयात्मक स्वरूप है। मैत्री सुखप्रद है और द्वेष दुःखप्रद। मनुष्यों के परस्पर व्यवहार में मैत्री का अभाव होता है, तो दुनिया में दुख बढ़ जाता है। चोर को अपना घर छोड़ कर दूसरा घर प्रिय नहीं होता। इसीसे वह अपने लाभ के खातिर दूसरे के घर से चोरी करने के लिये प्रेरित होता है। एक खूनी अपने शरीर को ही चाहता है, दूसरे के शरीर को नहीं। इसीसे वह दूसरे का खून करने के लिये तत्पर हो जाता है। एक श्रीमन्त अपने कुटुम्ब को ही चाहता है, दूसरों के कुटुम्ब को नहीं। इसीसे वह अपने कुटुम्ब की भलाई के लिये दूसरों के कुटुम्बों का शोषण करता है। राजा अपने देश के सिवाय अन्य देशों को नहीं चाहता है। इसीलिये वह दूसरे देशों पर चढ़ाई करता है। अपने घर की तरह ही दूसरों का घर भी समझ लिया जाय, तो फिर कोई किसी के यहाँ चोरी कर सकता है? सभी अपने शरीर की तरह ही दूसरों का शरीर भी कीमती समझने लग जाय, तो फिर कोई किसी का खून कर सकता है? सभी अपने कुटुम्ब की तरह ही अन्य कुटुम्बों को भी चाहने लग जाय,

तो कौन किसका शोषण कर सकता है ? सभी अपने देश की तरह अन्य देशों को भी चाहने लग जाएं, तो कौन किस पर चढ़ाई कर सकता है ? इस प्रकार अगर गहरा विचार किया जाय, तो प्रतीत होगा कि दुनिया के सभी दुःखों की एक दिव्य औषधि मैत्री ही है ।

अहिंसक पुरुष सेवाभावी होता है, उसमें सेवावृत्ति ठूंस-ठूंस कर भरी होती है। अहिंसा के आराधक को अपने घर से सेवा की शुरुआत करनी चाहिये और धीरे धीरे उसे सारी दुनियाँ तक फैला देनी चाहिए। परन्तु उसकी सेवा में स्वार्थ की गंध नहीं आनी चाहिए। सेवा निष्काम भाव से करनी चाहिये। अन्यथा वह सेवा, सेवा नहीं, कुसेवा हो जायगी। सेवा के क्षेत्र में ऊँच-नीच का भेदभाव, गरीब-श्रीमन्त का भेदभाव या स्वजन-परजन का भेदभाव नहीं हो सकता है। ऐसी निःस्वार्थ अहिंसा का प्रभाव हर एक पर पड़ता है। जितने परिमाण में सेवा का विकास हुआ होता है, उतने ही परिमाण में उसका प्रभाव भी पड़ता है। अहिंसक के सामने क्रूर प्राणी भी अपना हिंसक स्वभाव भूल कर नम्र बन जाता है। जैसा कि कहा भी है कि—'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः' अहिंसा के निकट सब प्राणी अपना वैर छोड़ देते हैं।

किसी भी क्रूर, दुष्ट या हिंसक मनुष्य को सुधारना होगा, तो आप उसे हिंसा या क्रोध से नहीं सुधार सकेंगे, परन्तु अहिंसा, प्रेम और मैत्री से ही उसका सुधार किया जा सकेगा। आप अपने नौकर को भी दबाव से, हुक्म से या क्रोध से नहीं सुधार सकेंगे। आप अपने प्रेमपूर्ण वर्ताव से ही उसे सुधार सकेंगे ।

कई लोग कहते हैं कि दया का बदला कई वार उल्टा मिलता है, दया बताने जाते हैं, तो नौकर भी सिर पर सवार हो जाता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है। जो नौकर प्रेमपूर्ण व्यवहार के प्रति भी असावधानी प्रदर्शित करता है, उसके लिये अगर आप कठोर बनेंगे, तो उसका व्यवहार और अधिक कटु हो जायगा। उदार सेठ के प्रति भी जो नौकर असावधानी बर्तता है, वह नौकर अनुदार सेठ को इससे भी अधिक नुकसान पहुंचाता है। कठोर बरताव से उसमें सुधार होने की संभावना बहुत कम रहती है, जब कि बिगड़ने की प्रेमहीन बनने की अधिक। अतः निष्कर्ष यही है कि चाहे जैसी परिस्थति क्यों न हो, मैत्री और प्रेमपूर्ण बर्ताव का परिणाम ही अच्छा निकलता है।

कोई मनुष्य चाहे जितना बुरा क्यों न हो, पर चंडकौशिक सर्प जितना तो भयंकर नहीं होगा न ? चंडकौशिक सर्प का विष मीलों तक हवा में मिलकर असर पहुँचाता था और कोई भी प्राणी उसके पास नहीं जा सकता था। ऐसे जहरीले सर्प को भी भगवान महावीर ने अपनी मैत्री से सुधारा था। भगवान् महावीर ने अपने आदर्श व्यवहार से जो मार्ग दूसरों को सुधारने का बताया, वही राजमार्ग है। उसी पर चल कर दुनिया का कल्याण हो सकता है।

गालियाँ देकर किसी का दिल दुखाना, अपमान करना, निन्दा करना, मन से किसी का बुरा सोचना, किसी को लड़ने-झगड़ने की सलाह देना आदि सभी हिंसा के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, जो कि अहिंसा के उपासक के लिये त्याज्य हैं।

हिंसा और अहिंसा का माप निकालना कठिन नहीं है। जितने अंशों में समभाव हो, उतने ही अंशों में अहिंसा और

जितने अंशों में विषमभाव हो, उतने ही अंशों में हिंसा समझ लेनी चाहिये। समभावी पुरुष पत्थर का जवाब भी फूल से देता है। विषय-कषाय पर विजय पाना ही अहिंसा है और यही तप भी है। अहंभाव के त्याग का नाम ही अहिंसा है। ऐसी अहिंसा का पालन वीर पुरुष ही कर सकता है। कायर का इसमें काम नहीं। अहिंसा के पालन के लिये हमारे गुरुदेव फरमाया करते हैं कि बरसते हुए पानी का प्रहार जैसे किसान अपनी खेती के लिये हर्षित होकर झेलता रहता है, वैसे ही अहिंसक को भी अपनी अहिंसा रूपी खेती की प्रगति के लिये सभी तरह के कष्टों और आपत्तियों को सहर्ष झेलते रहना चाहिये।

अहिंसा व्रत के अतिचार—अहिंसा व्रत के पांच अतिचार कहे गये हैं। ये अतिचार साधक को जानने योग्य हैं, आचरण के योग्य नहीं। ये पांच अतिचार इस प्रकार हैं बन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।' बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार, और अन्नपाननिरोध।

बंध—किसी भी प्राणी को गाढ़ बन्धन से बांधना, या उसे अपने इष्ट स्थान पर जाने से रोकना बंध कहलाता है। कई लोग बंध का अर्थ बड़ा मर्यादित कर देते हैं और उसका अर्थ पशु तक ही समझते हैं। मानव को अनेक तरह से बांध लेने में वे व्रतभंग नहीं समझते। उनका यह अर्थ ठीक नहीं है। बंध का अर्थ मानव के व्यवहारों में भी लागू होता है।

नौकरों को अधिक समय तक रोक रखना, उन्हें अपने इष्ट स्थानों पर जाने देने में अन्तराय डालना, निर्दिष्ट समय के उपरान्त उनसे इच्छा-विरुद्ध काम लेना, इन सबका भी बंध के अतिचार

में समावेश होता है। एक मनुष्य गरीबी की वजह से नौकरी करता है, परन्तु उसकी गरीबी का अनुचित लाभ उठा कर उससे अधिक काम लेना ठीक नहीं है। यह अधर्म है। ऐसा करने से बंध का अतिचार लगता है, और व्रत में दूषण लगता है।

वध—किसी भी त्रस-जीव को मारना वध है। स्पष्टतः आज कोई किसी को मारना चाहेगा नहीं, परन्तु आज का जीवन व्यवहार इस तरह का हो गया है कि उसमें इस अतिचार से बचना कठिन-सा हो गया है। बैलों के आर लगाना और घोड़ों के चाबुक लगाना वध है। दयाधर्मी अपने हाथों से चाबुक लगाने में हिचकिचा जायेंगे। यह सही बात है; परन्तु जब वे कभी घोड़ागाड़ी या बैलगाड़ी से मुसाफिरी कर रहे हों, उस समय हाँकने वाला बैलों पर आर लगावे या घोड़ों पर चाबुक जमावे तो क्या वे उस समय मना करेंगे या जल्दी पहुंचने की इच्छा से उसके कार्य में अपनी मूक सम्मति प्रकट करेंगे? बैल या घोड़े को चाबुक लगाने का निमित्त बैठने वाला ही बनता है। अतः वह भी अपनी मूक सम्मति द्वारा चाबुक मारने वाले की तरह ही वध अतिचार का भागी बनता है।

चमड़े की अधिकांश वस्तुएँ पशुओं की हिंसा करके ही बनाई जाती हैं। सुकोमल चमड़ों की वस्तुओं के लिये नवजात पशु की या गर्भस्थ पशु की हत्या की जाती है और उसके चमड़े से ये चमकीली और कोमल वस्तुएँ तैयार की जाती हैं। ऐसी वस्तुओं का उपयोग करने वाला भी परोक्षतः वध में भागीदार बनता है।

इसी तरह चरबी वाले और रेशमी वस्त्र पहिनने वाले या मोती के गहने धारण करने वाले भी त्रस और पंचेन्द्रिय जीव के वध के भागीदार बनते हैं।

वृत्तिच्छेद का पाप भी वन्ध की तरह ही है। शास्त्रों में कहा गया है कि वृत्तिच्छेद करने वालों को भी वध का ही पाप लगता है। वध में स्पष्ट रूप से प्राणियों का वध होता है, जब कि वृत्तिच्छेद में अस्पष्ट रूप से। अतः वध के अतिचार का विचार करते समय इसका भी विचार करना चाहिये कि कहीं हमारी क्रिया वृत्तिच्छेद करने वाली तो नहीं है? गृहोद्योग को नष्ट करने वाले जो व्यवसाय-धन्धे हैं, उनसे कई गरीवों और विधवाओं की आजीविका नष्ट हो जाती है। जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कारखानों, मिलों या यंत्रोद्योग को उत्तेजना देते हैं, पोषण करते हैं, वे इस वृत्तिच्छेद के भागीदार वनते हैं।

पहले की गरीब विधवाएं चक्की पीस कर अपना भरण-पोषण करती थीं, वालकों को वड़ा करती थीं और पढ़ाती थीं। परन्तु जब से अनाज पीसने की चक्की आई, तब से गरीब विधवाओं का यह धन्धा छिन गया है। उनकी आजीविका नष्ट हो गई है। इसमें सूक्ष्म रूप से वध का पाप रहा हुआ है। कपड़े की मिलों से चरखा चलाने वालों का तथा बुनकरों का धन्धा नष्ट हो गया है। इस वृत्तिच्छेद के भागीदार सभी मिल मालिक और शेयर होल्डर ही गिने जायेंगे। इस प्रकार गृहोद्योग वन्द करने वाले जितने भी यंत्रोद्योग हैं, उनमें वनी हुई वस्तुओं का उपयोग करने से भी वृत्तिच्छेद और वध का भागीदार वनना पड़ता है।

कई लोग यह तर्क करते हैं कि 'हम तो मिलों के तैयार कपड़े पहनते हैं, इसमें क्या पाप करते हैं? हम उन्हें वनवाते थोड़े ही हैं? इसका पाप तो मिल चलाने वालों को लग सकता है, हमको क्यों! इस पर जरा गहरा विचार करेंगे, तो आपको प्रतीत

होगा कि इस वृत्तिच्छेद के साथ में मिल चलाने वालों के साथ-साथ मिलों की वस्तुओं का उपयोग करने वाले भी जुड़े हुए हैं। कारखानों में माल किसलिए तैयार किया जाता है। खरीदने और पहिनने वालों के लिए ही न ? अगर ये न हों, तो क्या ये मिलें चलाई जा सकेंगी ? स्पष्ट है कि इनके अभाव में मिलों का कारबार स्वतः बन्द हो जायगा।

चीन के कतिपय बौद्ध सम्प्रदायानुयायी पूर्ण शाकाहारी हैं। परन्तु जापान, लंका और बर्मा आदि के बौद्ध मांसाहारी हैं। अहिंसादि सिद्धान्तों को मानते हुए भी ये मांसाहारी हैं। अगर उनसे कोई यह पूछे कि तुम अहिंसा को मानने वाले होकर भी मांसाहार कैसे करते हो, तो वे उत्तर में कहेंगे, 'हम अपने हाथ से पशुओं को कहाँ मारते हैं ? बाजार में मांस मिलता है और हम उसे खरीद लाते हैं। इसमें हमको कहाँ हिंसा लग जाती है ? वहाँ बेचने वालों की दुकान पर भी यह बोर्ड लगा हुआ होता है कि Not killed for you !'

इस दलील में क्या आपको यथार्थता महसूस होती है ? आप कह उठेंगे कि मारने वाला भी मांस खाने वालों के लिये ही तो पशुओं को मारता है। अतः मांस खाने वाला भी हिंसा से कैसे बच सकता है ?

जैसे बौद्धों की यह दलील यथार्थहीन है-निस्सार है, वैसे ही मिलों और कारखानों की महारंभी वस्तुओं को उपयोग में लेने वालों की दलील भी निस्सार है। उपयोग में लेने वाला भी 'वध' का भागीदार अवश्य बनता है। अतः 'वध' के अतिचार से बचने के लिये अहिंसा के उपासक को इन सभी प्रवृत्तियों से और वस्तुओं से दूर ही रहना चाहिए।

सूई, पिन, सीने का धागा और साधारण वस्त्र आदि सभी छोटी-वड़ी आवश्यक वस्तुएँ महारंभी हैं–महाहिंसा से वनाई जाती हैं। अतः इनका उपयोग करने वाले इस महारंभ को उत्तेजन देते हैं, यह भी स्पष्ट ही है।

श्रीठाणांग-सूत्र में कहा गया है कि 'महारंभ की प्रवृत्ति करना या नरक गति में प्रवेश करना, दोनों समान ही है। क्योंकि महारंभ की प्रवृत्ति करने वाला मर कर नरक में ही जाता है। अतः इस व्रत के आराधकों को चाहिए कि वे किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पूर्व अल्पारम्भ और महारम्भ का विवेकपूर्ण विचार करें और तदनन्तर ही उसका उपयोग करें। ऐसा करने से वे महारम्भ के पाप से और नरक के असह्य दुःखों से वच सकेंगे।

त्रस-जीव की हिंसा करना नहीं, कराना नहीं। मन, वचन और काया से। अहिंसा की इतनी वारीकी श्रावकों के लिए भी शास्त्रकारों ने फरमाई है। अहिंसा के आराधक को अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति के समय इस फरमान को दृष्टि के समक्ष रखना चाहिए।

छविच्छेद—किसी भी प्राणी के अंगोपांग नाक, कान आदि छेदना छविच्छेद नामक तीसरा अतिचार है। पशुओं की तरह मनुष्यों पर भी यह अतिचार लागू होता है। अंगोपांग की तरह ही आज मनुष्यों के लिए पैसा हो गया है। नौकर को कम वेतन देना, मजदूर को कम वेतन देना या उसकी मजदूरी का कम पैसा चुकाना भी छविच्छेद है। नौकर के मां-वाप वीमार हों और वह उनकी सेवा के लिये अपने काम पर न जा सका हो तो ऐसे समय में नौकर का वेतन काटना भी उसको अंगोपांग छेदने जैसा ही असह्य प्रतीत होता है। मनुष्यों के प्रति किये

जाने वाले व्यवहारों में भी छविच्छेद का ऐसा विशाल अर्थ लेना चाहिये।

अतिभार—यह चौथा अतिचार है। मजदूर, बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंट आदि पर उनकी शक्ति उपरान्त भार लादना अतिभार है। शक्ति उपरान्त नौकरों से काम लेना भी अतिभार है। शक्ति होने पर भी अपना काम खुद न कर दूसरों से कराना भी अतिभार है। महात्माजी भी कहते थे कि शक्ति और समय हो, तो हर एक को अपना काम अपने हाथ से ही करना चाहिये। दूसरों के द्वारा नहीं कराना चाहिये। काम अधिक होने पर नौकर रखा जाय, तो वह अधिक काम ही उसके सुपर्द करना चाहिये।

गांधीजी की अनुयायी गंगाबेन वैद्य बोचासण विद्यालय में रहती हैं। उनकी उम्र ७० वर्ष की है। उन्होंने गांधीजी का उपदेश सुन कर एक गाय पाली और धीरे-धीरे गायों की संख्या बढ़ाती गई। वह इन गायों का सारा काम अपने हाथ से करती थी। जब यह संख्या तीस तक पहुँच गई, तब उन्हें एक नौकर भी रख लेना पड़ा। परन्तु जब तक वह थकती नहीं थी, तब तक बराबर काम करती रहती थीं और नौकर को बैठा रखती थीं। जब वह थक जाती तभी नौकर को काम पर लगाती थीं। इस प्रकार मानव स्वावलम्बी बन जाय, तो वह अतिभार के दोष से बच सकता है। शक्ति होने पर भी जो काम नहीं करते हैं, खा-पीकर सोते रहते हैं, पानी पीने के लिये भी दूसरों से मंगाते हैं, वे अतिभार के पाप से कैसे बचे रह सकते हैं? आज तो नौकर के द्वारा ही घर का सारा काम कराया जाता है और वह थक जाता है, तब भी उसकी परवाह नहीं की जाती है। आज के नौकरों की स्थिति तो पशुओं से भी ज्यादा खराब है। घर में घोड़ा होगा तो

उसके लिये तो घर में स्वतन्त्र जगह भी होगी और व्यवस्था के लिये एक स्वतन्त्र आदमी भी रखा जायगा। बीमार हो जाने पर अपने डाक्टर से उसका उपचार भी कराया जायगा। इस प्रकार एक घोड़े के पीछे लगभग २००) रु० प्रतिमास खर्च किये जायेंगे। परन्तु दूसरी तरफ इन्हीं २००) रु० में चार डिग्री वाले शिक्षकों की खोज की जायगी? घोड़े के बीमार हो जाने पर उसकी पूरी सार-संभाल की जाती है, परन्तु अपना नौकर बीमार हो जाय तो उसकी तरफ ध्यान देने वाले, उसकी दवा का प्रबन्ध करने वाले और बीमारी का वेतन न काटने वाले कितने धनवान मिल सकेंगे? बीमार घोड़े को तो आराम भी दिया जायगा। कुछ दिनों तक उससे बिल्कुल काम नहीं लिया जायगा। परन्तु बीमार नौकर को आराम देने वाला कोई सेठ मिल सकेगा! साइकिल, मोटर, रेडियो और घड़ी खराब हो जाय तो उसे तत्काल ठीक कराई जाती है। परन्तु बीमार नौकर की तरफ इतना भी ध्यान कौन देता है। क्या मनुष्य की कीमत घोड़ा या इन जड़ यन्त्रों से भी थोड़ी है? जिनसे आप काम लेते हैं उनके प्रति सजग हो उनकी आवश्यक सार-संभाल रखना भी आपका कर्तव्य हो जाता है।

यह तो नौकर और सेठ की बात हुई। सास और बहू के बीच में भी यही विषय लागू होता है। सासू, सशक्त होने पर भी बैठी रहे और सारे घर का भार बहू पर डाल दे तो यह भी 'अतिभार' कहा जायगा। घर में विधवा या त्यक्ता हो, तो उससे अधिक काम लेना, रसौड़ा का सारा काम-काज उसे सौंप देना, और दूसरों का निठल्ला बैठे रहना, यह भी एक तरह का अतिभार ही है।

प्रत्येक मनुष्य को खाने के लिये अनाज चाहिये, और पहिनने के लिये वस्त्र। रहने के लिये मकान तथा बर्तन-बासन आदि अनेक वस्तुएँ चाहिये। आप अन्न खाते हैं और वस्त्र पहिनते हैं, पर खेती की कला आप जानते नहीं हैं और न वस्त्र बुनने की कला ही आपने सीखी है। मकान में रहते हैं, पर मकान की मरम्मत कर लेना आप समझते नहीं हैं। इसी तरह अनेक चीजों का आप उपयोग करते हैं, जिनका उत्पादन दूसरे मनुष्य करते हैं। बिना कोई नवसर्जन किये इन सभी वस्तुओं का उपयोग करना भी ठीक नहीं है। उसमें भी सूक्ष्म रूप से इन अतिचारों का सेवन रहा हुआ है। अतिभार के अतिचार से बचने के लिये मनुष्य को स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करना चाहिये।

अन्न-पान-निरोध—यह पाँचवाँ अतिचार है! जिसका अर्थ है अन्न-पानी का विरोध करना। किसी के खान-पान में रुकावट डालना। खाने के समय नौकर को खाने के लिये न जाने दिया हो तो उसमें 'अन्न-पान निरोध' का दोष लगता है। किसी की आजीविका नष्ट कर देना, किसी की नौकरी छुड़ा देना भी इसी अतिचार में आते हैं। गरीब प्रजा भूखों मरती हो, पर व्यापारी लोभवश अनाज का संग्रह रखे, या अधिक पैसों की प्राप्ति के लिये विदेशों में अनाज भेज दे, तो इससे भी 'अन्न-पान निरोध' का दोष लगता है। दुष्काल के समय में लग्नादि प्रसंगों पर या धार्मिक उत्सवों में केवल अपनी वाहवाही के लिये जो बड़े बड़े जीमनवार करके अनाज का दुरुपयोग करते हैं, वे भी इस अतिचार के भागी बनते हैं।

पहले व्रत के ये पाँच अतिचार हैं जिससे अहिंसा के आराधक को दूर रहना चाहिये।

पशु को कष्ट हो, ऐसा गाढ बन्धन बांधना नहीं, उसको मारना नहीं, अंगोपांग छेदना नहीं, उस पर विशेष भार लादना नहीं और उसके खान-पान की सुव्यवस्था में उपेक्षा रखना नहीं, इन अतिचारों के सिवाय ऊपर कहे गये अतिचारों से बचने के लिये पूर्ण जागृति रखने से ही इस व्रत की सम्यक्तया आराधना की जा सकती है।

पहले व्रत के ये अतिचार मानव और पशुओं के साथ किये गये व्यवहार में तो लागू होते ही हैं, परन्तु एक विचारक ने इन्हें कौटुम्बिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी घटाये हैं। आज दिन तक इन अतिचारों का बड़ा ही मर्यादित अर्थ होता रहा है। अतः यह विचार श्रेणी अवश्य नई प्रतीत होगी। परन्तु विकास के इच्छुक और विचारक वर्ग के लिये व्यापक अर्थ घटाना भी आवश्यक है।

पति के मर जाने पर जबरन रोना-धोना, छाती, माथा ठोकना, काले वस्त्र पहनना, कौने में बैठना, यह 'वध' है। इस रिवाज को नहीं पालने वालों की निन्दा करना 'वध' है। इस रिवाज का नहीं पालने वालों की प्रतिष्ठा में कमी करना 'छवि-च्छेद' हैं। रूढ़ियों के हिताहित का विचार किये बिना उनका भार दूसरों पर डालना 'भारारोपण' है। गरीब बहिन जो काम करके अपना पेट भरती हो, उसके काम में अन्तराय डालना 'भत्तपाननिरोध' है। इस प्रकार अयोग्य रूढियों में भी ये अतिचार लागू होते हैं।

सन्तान को धर्मज्ञान न देना, संसाराभिमुख करने का प्रयत्न करना, संसारावस्था में बांध रखना, इसका भी बन्ध अतिचार में समावेश होता है। पिता की अजीविका का साधन

अल्पारंभी या आर्य धर्मानुकूल न हो, उसमें अधर्म या अनीति का सेवन करना पड़ता हो, किसी तरह का व्यसन लगा हुआ हो, तो सन्तान पर उसका प्रभाव पड़ता ही है। इससे पिता तथा पुत्र को कर्मबन्ध होता है। अतः यह भी एक तरह का बन्ध ही है।

सन्तान के लिये विशेष सम्पत्ति रख जाने की भावना करना भी परिग्रह का बन्ध है। अपनी होंस पूरी करने के लिये बाल्यावस्था में ही पुत्र-पुत्रियों को लग्नग्रन्थियों में जकड़ देना भी बन्ध ही है। इससे उनका विकास रुक जाता है। विषय-कषाय का सेवन करने से आत्म-गुणों का वध होता है। परिग्रह से जो विषय-कषाय और आरम्भ की वृत्ति पैदा होती है वह भी 'वध' ही है।

प्रमादी बन कर ज्ञान-दर्शन और चारित्र के आत्म-गुणों में कमी करना 'छविच्छेद' है। अज्ञान, स्वार्थवृत्ति, मोह, ममता और अहंभाव के संस्कार अपनी सन्तानों पर डालना 'अतिभार' है। समता, शान्ति, सन्तोष आदि गुणों से उनको अलग रखना उनके आत्मिक भोजन में अन्तराय डालने जैसा है।

लग्नादि प्रसंगों पर जेवर और वस्त्र चढाने का रिवाज भी एक तरह का बन्ध ही है। मरण-भोज, अट्ठाई, वर्षीतप या अन्य किसी प्रसंग पर प्रभावना बांटना या वरघोड़ा निकालना भी एक बन्धन है। ऐसा न करने वाले की निन्दा करना 'वध' है। ऐसा न करने वाले की प्रतिष्ठा में कमी लाना 'छविच्छेद' है। समाज में सभी लोग आर्थिक दृष्टि से समान नहीं होते हैं, फिर भी गरीबों पर चालू रीति-रिवाज पूरा करने का भार डालना 'अतिभार' है। ऐसे रिवाजों से गरीबों को अपनी आजीविका

चलाना भी मुश्कल हो जाता है। ऐसी स्थिति में आ जाना 'भत्तपान विवच्छेद' अतिचार है।

आज के युग की पुकार है कि अतिचारों का ऐसा व्यापक अर्थ करने पर ही व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति की जा सकेगी। कुरिवाजों का आग्रह रखने मे समाज का प्रत्येक व्यक्ति इन पापों का भागीदार बनता है।

अहिंसा की सम्यक् आराधना के लिये गृहस्थों को इन अतिचारों से बचना चाहिये और इनका अर्थ व्यापक रीति से करना चाहिये।

भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित इस एक ही व्रत को यदि पूर्ण रूप से मानव स्वीकार कर ले तो दुनिया के कई अनर्थ अपने आप कम हो सकते हैं और मनुष्य शांति से अपनी जिन्दगी बसर कर सकता है।

२

सत्य-व्रत

दूसरा व्रत 'थुलाओ मुसावायाओ वेरमणं' है। झूठ बोलने से बचना इस व्रत का उद्देश्य है। असत्य भाषण न करना इस व्रत की निषेधात्मक (Side) बाजु है और सत्य की आराधना करना विधेयात्मक। सत्य की आराधना करना जीवन की सर्वश्रेष्ठ साधना है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में अहिंसादि पांच व्रतों का वर्णन आता है। उसमें अन्य किसी व्रत को नहीं, पर सत्य को ही भगवान की उपमा दी गई है। उसमें कहा है कि 'सच्चं खु भगवं' सत्य ही भगवान् है।

वैदिक धर्म में 'सत्यनारायण' शब्द प्रचलित है। इसका अर्थ भी यही है कि सत्य ही नारायण है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म में सत्य का महत्व माना गया है।

जैसे कल सूर्य उगने वाला है, इसमें किसी को शंका नहीं होती है, वैसे ही सत्य की विजय में भी निश्शंक होना चाहिये। शास्त्रकार सत्य की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि 'सच्चं लोगम्मि सारभूयं' सत्य ही एक सारभूत वस्तु है और सब निस्सार है।

इस व्रत के आराधक की वाणी में न कठोरता का अंश होता है और न कटुता का ही। न उसकी वाणी तामसी होती है

और न अप्रिय ही। भाषा का असत्य आडम्बर भी उसकी वाणी में नहीं होता है। उसकी वाणी तो मधुर, सात्विक और नम्र होती है। मित और प्रिय होती है।

सत्य के आराधक का विचार और वाणी ही सत्य नहीं होती पर उसका आचरण भी सम्यक् होता है। इमर्सन के शब्दों में कहें तो The greatest homage we pay to truth is to use it. अर्थात् सत्य को अपने जीवन में उतारना ही सत्य का सर्वोच्च सम्मान करना है।

ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में चार प्रकार के सत्य बताये गये हैं — **चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते तंजहा काउज्जुयया, भासुज्जुयया भावज्जुयया अविसंवायणाजोगे।** अर्थात् काया की सरलता, भाषा की सरलता, भावों की सरलता और इन तीनों योगों की अविसंविवादिता-सत्य के चार प्रकार हैं।

दुनिया के धर्म भिन्न रहें पर उन सब धर्मों का सत्य एक ही है। इसमें कहीं भिन्नता नहीं है। वस जीवों के प्रति कल्याण भावना रखना मानसिक सत्य है। विवेकमय बोलना वाचिक सत्य है। किसी का अहित न हो ऐसी प्रवृत्ति करना कायिक सत्य है। सत्य की इस व्याख्या को सभी धर्मों ने समान रूप से स्वीकार किया है।

सत्य व्रत की आराधना करने के लिये जैसे बने वैसे कम बोलने की आदत डालनी चाहिये। हित, मित, सत्य और पथ्य वचन के सिवाय और कुछ बोलने की आदत भुलानी चाहिये। बोलने से पहले सुनने वाले पर क्या असर हो? इसका विचार कर लेना चाहिये। किसी को वचन देने से पहले अपनी शक्ति का माप अवश्य निकाल लेना चाहिये।

महात्माजी ने 'मंगल प्रभात' में लिखा है कि सत्य की आराधना में तपश्चर्या करनी होती है, उसके पीछे कष्ट सहन करना पड़ता है और कई बार तो मृत्यु से भेंटने का मौका भी आ जाता है। उसमें स्वार्थ की गन्ध तक नहीं होती। यह सत्य रूप परमेश्वर चिन्तामणिरत्न समान है, जिसकी प्राप्ति से जीवन तेजस्वी और शौर्ययुक्त बनता है।

सत्य, मानव-हृदय में रही हुई ईश्वर की मूर्ति है। सत्य की दिशा जिसे सूझ गई, समझ लो ईश्वर के सब आशीर्वाद उसे प्राप्त हो गये। सत्य के बिना मनुष्य अन्धा है। सत्य ही मानव का हृदय-चक्षु है।

मनुष्य जब सत्य का अनुसरण करने लगता है और उसकी दृष्टि में हमेशा सत्य ही रहने लग जाता है तब उसे कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि सत्य मुझे लोक—समुदाय से दूर करता जा रहा है। परन्तु उस समय भी उसे घबराना नहीं चाहिये। उसे इसका विश्वास होना चाहिये कि सत्य मुझे अधिकाधिक ईश्वर के समीप ले जा रहा है।

हर एक मनुष्य यह चाहता है कि सत्य मेरे पक्ष में रहे, परन्तु ऐसे मनुष्य बिरले ही होते हैं जो सच्चे दिल से सत्य के पक्ष में रहते हैं। अर्थात् दुनिया की दृष्टि से सच्चा बनना तो सभी चाहते हैं, परन्तु सच्चे दिल से सत्य का आचरण करना कोई विरले ही चाहते हैं। सुकरात का शिष्य प्लेटो कहता है कि— There is nothing so delightful as the hearing or the speaking of the truth अर्थात्—सत्य वचन सुनने और सत्य बोलने से अधिक आनन्दप्रद कुछ भी नहीं है।

हजारों सूर्य मिलकर भी सत्य के प्रकाश का मुकाबला नहीं कर सकते और न लाखों राहु ही असत्य के अंधकार का मुकाबला कर सकते हैं। सत्य के प्रकाश के सामने हजारों सूर्यो की और असत्य के अंधकार के सामने लाखों राहुओं की शक्ति परास्त हो जाती है। यों सभी सद्‌गुणों का सत्य में और सभी दोषों का असत्य में समावेश हो जाता है। सत्य का आराधक दिन-प्रतिदिन नम्र बनता जाता है और अपनी त्रुटियाँ स्वयं समझ कर उन्हें सुधारता जाता है। इसीलिये सत्य को स्वयंभू, सर्वशक्तिमान् और स्ववीर्यगुप्त-स्ववीर्यरक्षित कहा गया है। इन्द्रियजन्य सुख और सामर्थ्यजन्य सत्ता इन दोनों के साथ सत्य का बारहवाँ चन्द्रमा है-यानी विरोध है। सत्य-पालन से उत्पन्न होने वाला सामर्थ्य बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है। सत्य के पालन से दो प्रकार के सामर्थ्य प्राप्त होते हैं। पहला उसकी वाणी में तेज आ जाता है और उसका सर्वत्र प्रभाव पड़ता है। दूसरा प्रत्येक वस्तु का रहस्य उसे अपने आप समझ में आने लग जाता है।

असत्य में कुछ बल नहीं होता है। वह निर्बल है। अतः निर्बल का आश्रय लेने से निर्भयता तो आ ही कैसे सकती है? सत्य बलवान् है अतः उसका आश्रय लेने से निर्भयता पैदा होती है। जिन तोपों और मशीनगनों के नाम से मनुष्य कांप उठते हैं, उनकी आवाज़ से मनुष्यों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, वे ही तोपें और मशीनगनें सत्य-बली के सामने नाचीज हो जाती हैं, उसका बाल भी बांका नहीं कर सकती हैं।

सत्य का पालन प्रकृति भी करती है। समयानुसार ऋतुओं का परिवर्तन होना, समुद्र में ज्वार और भाटा का आना, सूर्य-चन्द्र का उदय और अस्त होना, ग्रहों का नियत परिभ्रमण ये सब

प्राकृतिक सत्य के परिचायक हैं। यदि प्रकृति इस प्रकार सत्य का अनुसरण न करे तो कितनी अव्यवस्था फैल जाय ?

ग्रीष्म ऋतु के समय वर्षाऋतु आ जाय और वर्षाऋतु के समय शीतऋतु आ जाय तो कितनी गडबड़ी हो जाय ? इसी तरह मनुष्य भी यदि सत्य का उल्लंघन करता है तो अव्यवस्था पैदा हो जाती है। आज की ये सभी सामाजिक अव्यवस्था असत्यमय आचरण को लेकर ही हैं। सामाजिक या राष्ट्रीय, आर्थिक या कौटुम्बिक किसी भी प्रकार की व्यवस्था कायम रखने के लिये सत्य की नितान्त आवश्यकता होती है। क्योंकि सत्य ही इसका एकमात्र राजमार्ग है।

सत्य का गुण तो स्वभावतः मनुष्य में होता ही है और सत्य का आचरण करने के लिये प्रयास करने की भी आवश्यकता नहीं होती है। यदि मनुष्य कुसंगति में पड़ कर या असत्य के वातावरण में रह कर, असत्य को ग्रहण नहीं करे, तो सत्य का आचरण उसके लिये स्वाभाविक ही बन जाता है। यदि कोई प्रारम्भ में ही सत्य के वातावरण में पलता है तो फिर वह कभी असत्य का विचार भी नहीं ला सकता है। छोटे बालक को सत्य का उपदेश देने की जरूरत नहीं है, जरूरत है उसके सामने सत्यमय आचरण और वातावरण खड़ा कर देने की यदि वह सत्य के वातावरण में पलता है तो वह अवश्य सत्यवक्ता बनता है। इस प्रकार सत्य मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, जब कि असत्य तो उस पर बाहर से लादा जाता है।

जीवित रहते हुये हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं किया जा सकता है। परन्तु असत्य के लिये ऐसा नियम नहीं है। खान-पान,

हर साँस में हलन-चलन में होने वाली सूक्ष्म हिंसा को मानव दूर नहीं कर सकता, परन्तु वह असत्य को पूर्ण रूप से दूर कर सकता है।

लोग कहते हैं कि व्यवहार में झूठ बोले बिना चलता नहीं है। परन्तु सही बात तो यह है कि व्यवहार में सत्य के विना चलता नहीं है। कोई मनुष्य एक दिन के लिये भी सत्य वोलने का त्याग कर दे तो उसका व्यवहार मुश्किल हो जायगा। वोरी-वन्दर स्टेशन से उतर कर यदि उसे कालावादेवी जाना होगा तो गाड़ीवान से सच्चा कहना ही होगा। अन्यथा इसके बिना चलेगा नहीं। किसी को प्यास लगी हो तो उसे पानी के लिये सच बोलना ही पड़ेगा। दुकानदार से अमुक वस्तु खरीदने के लिये उसका वास्तविक नाम बताना ही पड़ेगा। नौकर को कहीं भेजना होगा तो उसको सही ठिकाना वताये विना काम कैसे चलेगा? बैंक से रुपये मांगते समय भी चैक पर सच्ची सही करनी ही पड़ेगी। इस प्रकार हर एक प्रवृत्ति में सत्य के विना व्यवहार चलना कठिन हो जाता है। इससे आप समझ गये होंगे कि जीवन का व्यवहार असत्य से नहीं, पर सत्य के विना चल नहीं सकता है। जो लोग यह कहते हैं कि व्यवहार में असत्य वोले विना चलता नहीं है, वे भ्रम में हैं। जीवन के प्रत्येक क्षण में सत्य वोलने की आवश्यकता पड़ती है। इससे सत्य स्वाभाविक और असत्य अस्वाभाविक सिद्ध होता है। अतः असत्य को महारोग समझ कर उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिये। विषैली 'गैस' से भी असत्य ज्यादा जहरीला होता है। इसी से भगवान् महावीर ने 'मृषावाद' से दूर रहने का उपदेश दिया है।

इस व्रत के पाँच अतिचार है। जिनका आराधक को आचरण नहीं करना चाहिये। पाँच अतिचार ये हैं:—मिथ्योपदेश-रहस्याभ्याख्यान-कूट लेख-क्रिया-न्यासापहार-साकारमंत्र भेदः।' सच-झूठ समझा कर किसी को बुरे मार्ग पर लेजाना 'मिथ्या उपदेश' नामक प्रथम अतिचार है। दूसरा अतिचार 'रहस्याभ्याख्यान' जिसका अर्थ किसी की गुप्त बात प्रकट करना है। राग के वश या विनोद के खातिर किसी पति-पत्नी को जुदा कर देना, स्नेहियों का स्नेह भंग कर देना या किसी पर झूठा आरोप लगा देना भी रहस्याभ्याख्यान है। किसी की गुप्त बात प्रकट करने से कई वार मनुष्य अपनी इज्जत-आबरू के खयाल से आत्मघात भी कर वैठता है। इसीलिये किसी का रहस्य प्रकट नहीं करना चाहिये।

झूठे लेख लिखना 'कूटलेख क्रिया' है। झूठे दस्तावेज करना, खोटा सिक्का चलाना, या टैक्स बचाने के लिये झूठे बहीखाते लिखना ये सभी 'कूट लेख' में आ जाते हैं। थापण (जेवर आदि) रखने वाला यदि कोई वस्तु भूल जाय तो उसे हजम कर लेना 'न्यासापहार' है। पाँचवा अतिचार किसी की झूठी चुगली खाना है, जिससे कि किसी की प्रीति कम हो जाय। इसी का नाम 'साकार मंत्र-भेद' है।

कन्या के लिये, गाय के लिये तथा भूमि के लिये असत्य न बोलना और न दूसरों से बुलाना मन, वचन और काया से। शास्त्रकारों का इतना बारीक फरमान है। कन्या और गाय के लिये असत्य बोलने के इस फरमान में सभी मनुष्यों और सब तरह के पशुओं का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार छह कोटि से मृषावाद का त्याग करना चाहिये।

इस व्रत में व्यापार के लिये, पैसों के लेन-देन के लिये असत्य बोलने का निषेध किया गया है। इसी तरह अपनी संतान-पुत्र या पुत्री के स्वार्थ के लिये भी असत्य नहीं बोला जा सकता है। जब अपनी सन्तान के लाभ के लिये भी असत्य नहीं बोला जा सकता है तो फिर साधारण लाभ के लिये वह कैसे बोला जा सकता है? सत्य का आराधक क्रोध, माया, राग या लोभ के वशीभूत हो वचन नहीं कहता है। उसकी वाणी किसी को हानि-प्रद नहीं होती है। जिस बात की उसे खबर नहीं, वह बात सत्य का आराधक नहीं बोलता है।

गृहस्थों को, पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा और वनस्पती आदि जीवों की हिंसा हो, ऐसा वचन संसार-व्यवहार चलाने के लिये बोलना पड़ता है। ऐसे वचन को शास्त्रकारों ने अल्प (छोटा) झूठ कहा है। ऐसे झूठ का श्रावक को आगार होता है।

इस छूट का कई श्रावक बड़ा विस्तृत उपयोग करते हैं और कई बातों को 'अल्प झूठ' में शामिल कर लेते है। व्यापार में असत्य बोल कर हजारों रुपये कमा लेने की प्रवृत्ति को आज कई श्रावक 'अल्प झूठ' में गिनते हैं। जहाँ-जहाँ असत्य बोलने पर भी अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो तो वहाँ असत्य बोलने में श्रावक-गण प्रायः हिचकिचाते नहीं हैं और स्वार्थ-सिद्धि के लिये बोले गये असत्य का 'अल्प झूठ' में समावेश कर देते हैं; परन्तु यह इनकी भूल है।

एक बार उपयोग में आई हुई एक पैसे की टिकिट का पुनः उपयोग करना गुनाह माना जाता है। पिता का रेल्वे पास पुत्र काम में लाता है तो यह भी गुनाह है। ऐसी छोटी-छोटी बातें भी

जब सरकार चलने नहीं देती है, तब स्वार्थ-सिद्धि के लिये बोले गये असत्य को 'छोटा झूठ' मान कर उसके प्रति उपेक्षा कैसे रखी जा सकती है?

छोटा बालक भी यदि लिखने में काना-मात्र की भूल करता है, तो उसे भी भूल समझ ली जाती है। चैक या हुंडी में छोटी-सी भूल भी चल नहीं पाती है। तब फिर संकल्पपूर्वक एक पाई का भी स्वार्थ-सिद्धि के लिये बोला गया झूठ 'अल्प झूठ' कैसे माना जा सकता है, और उसके प्रति उपेक्षा भी कैसे रखी जा सकती है?

बिच्छू काट खाय, तो क्या आप उसके डंक के प्रति उपेक्षा रख सकेंगे? बिच्छू का छोटा-सा डंक भी बड़ी पीड़ा पहुँचाने वाला होता है। अतः आप इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। असत्य का डंक बिच्छू के डंक से भी अधिक भयंकर होता है। जब यह आत्मा को चुभ जाता है, तब इसके प्रति उपेक्षा कैसे रखी जा सकती है? विष थोड़ा हो या ज्यादा, आखिर तो विष ही होता है न? मन भर दूधपाक में एक बूंद भी विष की गिर जाय, तो वह सारे दूधपाक को विषमय बना देती है। ऐसा ही हाल असत्य का भी है। असत्य छोटा हो या वड़ा, विष की तरह पापमय ही होता है। अतः शास्त्रों में वताये गये आगारों से श्रावकों को अधिक छूट इस व्रत में नहीं लेनी चाहिये। श्रावकों की दृष्टि तो आगारों से भी लाभ लेने की नहीं होनी चाहिये। जैसे बने वैसे सत्य का पूर्ण पालन करना ही उनका ध्येय होना चाहिये।

इस विषय में श्रावक अरणक का प्रसंग सर्व विदित है। अरणक के सत्य की परीक्षा लेने के लिये एक देवता आया और बोला—'तू अपने सत्य का त्याग कर दे, नहीं तो मैं तेरा जहाज़

समुद्र में डुबा दूंगा।' अरणक के सामने एक तरफ जहाज़ में रक्खा हुआ करोड़ों का धन और उसमें बैठे हुए अनेक मानवों का जीवन-धन था, और दूसरी तरफ था सत्य। ऐसी विषम स्थिति में भी सत्य पर आरूढ़ रहे, अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं हुए। आखिरकार देव उनकी दृढ़ता को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और अपने स्थान को चला गया।

अरणक जैसी श्रद्धा हर एक मनुष्य को सत्य के प्रति होनी चाहिये। परन्तु आज तो बिल्कुल विपरीत स्थिति है। कहाँ तो करोड़ों का धन छोड़कर भी सत्य-पालन करने की वृत्ति और आज दो पैसों के लिये भी सत्य बेच देने की मनोवृत्ति ? दो पैसों के खातिर सत्य छोड़ देने की वृत्ति त्याज्य है, और किसी भी हालत में सत्य को पकड़े रहने की वृत्ति श्रेयस्कर है, यह भूलना नहीं चाहिये।

गांधीजी जैसे महापुरुष सत्य के लिये अमेरिका की विपुल धन-राशी को भी ठोकर मार सकते हैं, तब अपने को जो श्रावक कहते हैं, वे आठ आने के पीछे आठ बार झूठ कैसे बोल सकते हैं ? भीलों के लिये कहा जाता है, कि शपथ लेने के बाद वे मौत से बचने के लिये भी झूठ नहीं बोलते हैं। ऐसी कौम भी जब अपने जीवन में ऐसा अच्छा आचरण करती है, तब श्रावक कहे जाने वाले व्यक्ति अगर तुच्छ वस्तु के लिये भी झूठ का आसरा लेते हों, तो यह क्या उचित कहा जा सकता है ?

अहमदाबाद के एक प्रतिष्ठित भाई का यह प्रसंग जानने जैसा है। एक बार उस भाई का अपनी धर्मपत्नी से कुछ विचार-भेद हो गया, जिससे दोनों में क्लेश हो गया। आवेश में आकर उसने अपने पास रखी हुई वस्तु को अपनी धर्मपत्नी पर फेंक दी,

जिससे वह मूर्छित होकर गिर पड़ी और थोड़ी ही देर में उसका देहांत भी हो गया। इसके बाद वह भाई पुलिस स्टेशन गया और यह सत्य घटना कह सुनाई। पुलिस ने उस पर केस चलाया। उसके वकील ने उससे कहा—इस घटना में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। अतः यदि तुम यह बयान दे दो कि मेरे हाथ से यह घटना नहीं हुई है, तो सम्भव है तुम निर्दोष छूट जाओगे। उस भाई ने कहा—मैं झूठ बोलना नहीं चाहता। सच बोलते हुए तुम अपने कानून से बचा सकते हो तो बचा लो, अन्यथा निर्दोष सिद्ध होने के लिये मैं झूठ बोलने को तैयार नहीं हूँ। अपने किये हुए अपराध के लिए मुझे जो सजा होगी, उसे सहने को भी मैं तैयार हूँ। कोर्ट में जब केस चला तो उसने मजिस्ट्रेट के सामने सत्य घटना कह सुनाई। इससे मजिस्ट्रेट उस पर बड़ा खुश हुआ। कानूनन दुःखित हृदय से उसने सजा तो सुनाई, पर अपना निर्णय देते हुए यह लिखा कि 'न्यायाधीश का काम करते हुए मैंने इतने समय में ऐसा सत्यवादी मनुष्य यह पहली बार ही देखा है। इसलिये मैं सरकार से सिफारिश करता हूँ कि जब भी कोई खुशी का प्रसंग आवे, पहले इस भाई को सजा से मुक्त किया जावे।' हुआ भी ऐसा ही। कुछ समय बाद ही सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक की खुशी में उस भाई को सजा से मुक्त कर दिया गया।

यह केस जब यूरोपवासियों ने सुना तो पाँच हजार मील दूर बैठे हुए वे लोग भी इस भाई की सत्यप्रियता पर प्रसन्न हुए और वहाँ की कई बड़ी-बड़ी कम्पनियों ने बिना माँगे ही इस भाई को अपनी एजन्सियाँ दे दीं। फिर तो उसका व्यापार बड़े

जोरों से चल निकला और थोड़े समय में ही उसकी गिनती बड़े धन-कुबेरों में होने लग गई।

रावजी भाई पटेल का भी एक जीवन-प्रसंग सत्यव्रत के लिये वोध-पाठ लेने जैसा है। रावजीभाई के पिता मणिभाई पटेल को एक व्यक्ति ने मार दिया। पुलिस ने उसे पकड़कर उस पर केस चलाया। प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने पर पुलिस ने रावजीभाई को झूठे प्रमाण पेश करने को कहा। इस पर रावजीभाई ने जो उत्तर दिया वह याद रखने जैसा है। उन्होंने कहा-'खून तो मेरे पिता का हुआ है। अतः मुझे जितना दुःख हो उतना दूसरे को न होना स्वाभाविक ही है। परन्तु मेरे पिता का खून करने वाले का खून कराने के लिये झूठे प्रमाण पेश कर मैं सत्य का खून करना नहीं चाहता। मनुष्य के खून से भी मैं सत्य का खून विशेष भयंकर मानता हूँ। अतः मैं झूठे पुरावे पेश नहीं कर सकता हूँ।' यह जवाव सुनकर पुलिस अधिकारी स्तब्ध हो गया था।

बंदर को पींजरे में बन्द कर देने पर जैसे उसे अटपटा लगता है, वैसे ही स्वच्छंदी स्वभाव वाले पुरुष को भी सत्य का सेवन पिंजरे के समान अटपटा लगता है। यदि सभी सत्यभाषी वन जाए, तो दुनियाँ में वकील, वेरिस्टर, सोलीसीटर, जज आदि किसी की भी आवश्यकता न रहे। कायदा-कानून और कोर्ट की भी आवश्यकता न हो। सत्य के पालन से दंभ, ईर्ष्या, द्वेष, आदि का भी समूल नाश हो जाता है।

सत्य-रहित मनुष्य लकड़ी या पत्थर के टुकड़े की तरह है। अन्य सव पाप राई के समान हैं, जव कि असत्य का पाप पर्वत की तरह है। असत्याचरण के लिये हृदय तैयार नहीं होता है।

अन्य प्रकार के पाप करने वाला शुद्ध होकर साधु अथवा आचार्य भी बन सकता है, परन्तु असत्य का सेवन करने वाला मानव कहलाने का भी हकदार नहीं होता।

असत्याचरण मनुष्य को ईश्वर से दूर कर देता है और मानव समाज को हानि पहुंचाता है। इमर्सन ने कैसा सुन्दर कहा है कि—Ever violation of truth is a stal at the health of human society. अर्थात् सत्य का उल्लंघन करना हर बार मानव समाज के आरोग्य को जख्मी बनाता है।

दूसरे पाप करने वाला अपने पाप को स्वीकार कर लेता है। अतः वह उस पाप का ही भागीदार बनता है। परन्तु असत्य बोलने वाला हजारों पाप करके भी उन्हें स्वीकार नहीं करता। इससे जहाँ अन्य व्रतों का भंग करने वाले को सुधरने का अवकाश रहता है, वहाँ असत्य बोलने वाले को तनिक भी अवकाश नहीं रहता। पाप स्वीकार किये बिना शुद्धि कैसे हो सकती है? अन्य व्रतों का भंग करने वाला तो पुनः धर्म का आराधक और अधिकारी भी बन सकता है, परन्तु असत्य बोलने वाले को धर्म के लायक भी नहीं माना गया है।

असत्य और अनीति का आन्तरिक रोग फैलाने वाला मरने के बाद मक्खी तथा मच्छर आदि योनियों में जन्म धारण करता है। इन जीव योनियों में असत्य और अनीति द्वारा आन्तरिक भाव-रोग फैलाने की शक्ति नहीं होती है। अतः ये अपने जहर द्वारा शारीरिक रोग फैलाकर मनुष्य के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। असत्य का ऐसा बुरा परिणाम आता है।

ठाणांग सूत्र में कहा गया है कि असत्य बोलने वाला व्यक्ति मन, बुद्धि और इंद्रियों का दुरुपयोग करने से मृत्यु के पश्चात् विचार, बुद्धि और वाणी सहित पशु-योनि में जन्म लेता है। इससे विपरीत जो सत्याचरण करता है, वह मर कर उच्च योनि में जन्म धारण करता है।

किसी मनुष्य को यदि कोई कुत्ता, कौआ, बैल, घोड़ा अथवा गधा जैसा कहे, तो उसे दुःख होता है। किसी के कहने मात्र से ही कोई मनुष्य गधा या घोड़ा नहीं बन जाता, फिर भी ऐसा कहने से मनुष्य को दुःख होता है। तब फिर जिन वचनों और कर्तव्यों से नीच योनियों में जन्म लेना पड़ता है, उनके प्रति कितना अधिक दुःख होना चाहिये।

शास्त्रकारों ने तो असत्य बोलने वाले को केवल व्यवहार से ही स्थूल शरीर रूप मानव की बाह्य आकृति वाला माना है। निश्चय-भाव से तो उन्होंने उसे पशु ही माना है। अतः पशु-योनि से बचने के लिये मनुष्य को सत्य का आराधन करना ही चाहिये।

असत्य जैसा ही चोरी का पाप भी भयंकर है। उसका फल भोगने के लिये भी मनुष्य को पशु योनि में जन्म धारण करना पड़ता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने 'मृषावाद विरमण व्रत' कह कर अदत्तादान विरमण व्रत बताया है।

सत्य समुद्र से गंभीर, मेरु से महान, सूर्य से तेजस्वी और चंद्र तथा चंदन से भी शीतल है। फिर भी मनुष्य उसका आचरण नहीं कर सकता है, तो इसका कारण यही है कि उसे अफीम की तरह असत्य का नशा लग गया है। अफीम के व्यसनी को चाहे जैसी अच्छी से अच्छी वस्तु क्यों न दी जाय, परन्तु जैसे वह

अफीम खाना नहीं छोड़ता है, वैसा ही हाल असत्य के व्यसनी का भी होता है। अफीम खाने वाले पर अफीम सवार हो जाती है। वह पराधीन और अफीम का गुलाम बन जाता है। ऐसे ही मानव भी आज असत्य का गुलाम बन गया है। शुरू में अफीम छोड़ते समय कुछ मुश्किल होती है, परन्तु यदि मनुष्य दृढ़ निश्चय कर ले, तो वह अफीम की गुलामी से मुक्त हो सकता है। ऐसे ही असत्यभाषी को भी प्रारम्भ में उसे छोड़ते समय कुछ कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, परन्तु यदि वह दृढ़ संकल्प कर ले, तो असत्य की गुलामी से मुक्त हो सकता है।

दूसरे व्रत के पालन से और इसके अतिचारों के त्याग से दुनियाँ में शांति स्थापित हो सकती है। आज, प्रजा का जो नैतिक पतन देखा जा रहा है, उसे दूर करने के लिये और नैतिक पुनरुत्थान के लिये इस व्रत की आवश्यकता सबसे अधिक है।

सदा अप्रमादी और सावधान रहकर, असत्य को त्यागकर हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिये। इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है।

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए क्रोध से अथवा भय से-किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला असत्य वचन न तो स्वयं बोलना, न दूसरों से बुलवाना चाहिये।

मृषावाद (असत्य) संसार में सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है, और सभी प्राणियों को अविश्वसनीय है, इसलिए मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

अपने स्वार्थ के लिए, अथवा दूसरों के लिए, दोनों में से किसी के भी लिए, पूछने पर पाप-युक्त, निरर्थक एवं मर्म-भेदक वचन नहीं बोलना चाहिए।

३

अस्तेय-व्रत

तेल रहित दीपक का तेज क्षीण हो जाता है, चाबी न दी जाय तो घड़ी की गति मंद हो जाती है, बिना उष्णता के वाष्पयंत्र चल नहीं सकता है, और जैसे बिना भोजन के जीवन का तेज क्षीण हो जाता है, वैसे ही व्रत-नियम या संयम के बिना जीवन का तेज भी क्षीण हो जाता है, जीवन की गति मंद हो जाती है और वह प्रगतिशील बनने के बजाय पतनशील हो जाता है। गृहस्थ के जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिये भगवान महावीर ने बारह व्रतों की योजना करके दुनियाँ पर महान उपकार किया है। बारह व्रतों में से आज हम तीसरे अस्तेय-व्रत का यहाँ वर्णन कर रहे हैं।

शास्त्रकारों ने कहा है कि—

> चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
> दंत-सोहणमेत्तं पि उग्गहंसि अजाइया॥

अजीव वस्तु हो या निर्जीव, कम हो या ज्यादा, पर मालिक की आज्ञा बिना कोई भी वस्तु नहीं लेनी चाहिये। दांत कुरेदने का तिनका भी बिना आज्ञा नहीं लिया जा सकता है। इस व्रत का यथार्थतः विचार करेंगे, तो प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा कि इस व्रत का पालक ही अहिंसा और सत्य व्रत का पालक बन सकता है।

यह व्रत कहता है कि अपनी मालिक की वस्तु को छोड़ कर दूसरी किसी भी वस्तु के हाथ लगाना चोरी है। दूसरे की वस्तु को बिना उसकी अनुमति के अपने उपयोग में लाना अदत्तादान है। इस अदत्तादान का त्याग ही अस्तेय व्रत है। कई बार अखबारों में भी देखा जाता है कि 'किसी का सोने का जेवर, नोटों का बंडल, हीरे की अंगूठी आदि अमुक भाई को मिली हैं, सो जिसकी हों वे अपनी निशानी देकर ले जाए। अर्थप्रधान इस कलियुग में भी ऐसे सैकड़ों उदाहरण सुनने को मिलते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि मार्ग में पड़ी हुई दूसरे की वस्तु को अपनी समझना भी चोरी है। इस प्रकार की चोरी जैन से तो कभी हो ही नहीं सकती है। मन, वचन और काय से ऐसी चोरी को न स्वयं करना और न दूसरों से कराना, यही इस व्रत का आशय है। चुस्त आराधक तो अपने स्नेही के घर से भी उसके बिना पूछे कागज-पेंसिल अथवा सुपारी का टुकड़ा भी नहीं उठाता है।

किसी भी वस्तु को बिना आज्ञा नहीं लेने का नियम इस व्रत में बताया गया है। महात्मा जी ने इस व्रत के बारे में लिखा है कि जिस वस्तु की हमको आवश्यकता न हो, वह वस्तु दूसरों के पास से लेना भी चोरी है। फिर भले ही वह वस्तु दूसरों की आज्ञा से ली गई हो, पर बिना जरूरत के वस्तु लेना चोरी ही है। अमुक फल खाने की मनुष्य को आवश्यकता नहीं होती है, फिर भी यदि वह उन्हें खाने लग जाय तो वह भी चोरी ही है। मनुष्य अपना स्वभाव समझता नहीं है, इसी से उससे ऐसी चोरी हो जाती है। इस व्रत के आराधक को इस प्रकार अचौर्य का व्यापक अर्थ घटाना चाहिये। जैसे-जैसे वह इस व्रत का विशाल रूप में पालन करता जायगा वैसे-वैसे इस व्रत की महत्ता और उसका रहस्य भी समझता जायगा।

अस्तेय का इससे भी गहरा अर्थ विचारा जाय, तो प्रतीत होगा कि पेट भरने और शरीर ढकने के लिये जरूरत हो, उससे अधिक संग्रह रखना भी चोरी ही है। एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक रखने लग जाय, तो यह स्वाभाविक ही है कि दूसरों को आवश्यकता पूर्ति के लिये भी नहीं मिल सकता। दो जोड़ी कपड़ों के बजाय यदि कोई मनुष्य बीस जोड़ी कपड़े रखे, तो इससे दूसरे पाँच-सात आदमियों को वस्त्र-हीन फिरना पड़ता है। किसी भी वस्तु का अधिक संग्रह करना चोरी है। परन्तु आज तो इन बड़े चोरों को कोई पूछता ही नहीं हैं। ये खुले आम चोरी करते चले जा रहे हैं, और छोटे चोर दण्डित हो रहे हैं। इसीलिये केन्टो ने जरा तीखे शब्दों में कहा है कि—'साधारण चोर और साधारण खूनी व्यक्ति जेल के सींकचों में बन्द होकर सड़ते ही रहते हैं, जब कि बड़े चोर और बड़े खूनी व्यक्ति सोना-चाँदी पहनकर मौज मजा करते हैं।' इस प्रकार यदि हम देखें तो आवश्यकता से अधिक संग्रह करना भी चोरी ही है।

जो वस्तु जिस उपयोग के लिये मिली है उसका वैसा उपयोग नहीं करना भी चोरी है। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, शक्ति आदि की प्राप्ति आराधना के लिये हुई हैं, उनका उपयोग आत्माराधना में न कर भोगोपभोग में करना यह भी सूक्ष्म दृष्टि से चोरी ही है। शारीरादि का उपयोग परमार्थ के लिये न करते हुए स्वार्थ के लिये करना भी एक तरह की चोरी ही है

आज के हमारे विचारक कहते हैं कि जैसे चोर जन-समाज में घृणास्पद समझा जाता है वैसे ही कृपण को भी समझना चाहिये। अर्थात् चोर की तरह कृपण भी कायदे से शासित होना चाहिये। विना मांगे या विना पूछे कोई चीज उठा

लेना बड़ा गुनाह माना जाता है। वैसे ही जरूरत वाली कोई वस्तु मांगने आवे, तब देने वाला उसे यह वस्तु होने पर भी नहीं दे, तो यह भी नैतिक दोष समझा जाना चाहिये। उपनिषद में अश्वपति राजा अपने राज्य की महत्ता बताते हुए एक वाक्य में कहता है कि—'**न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यः**' चोर और कृपण को वह एक ही लाईन में बैठाता है। गहरा विचार करेंगे, तो प्रतीत होगा कि कृपण ही चोर के जनक होते हैं। अतः समाज में अस्तेय व्रत की प्रतिष्ठा कायम करने के लिये कृपणों को अपनी कृपणता त्याग देनी चाहिये और बदले में उदारता प्रकट करनी चाहिये।

चोरी के कुल चार प्रकार होते हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य से चोरी करना यानी वस्तुओं की चोरी। सजीव और निर्जीव इन दोनों प्रकार की चोरी द्रव्य कही जाती है। किसी के पशु चुरा लेना या किसी की स्त्री का अपहरण कर लेना, किसीका बालक चुरा लेना या किसी के फलफूल तोड़ना यह सजीव चोरी कही जाती है। सोना-चाँदी, हीरा, माणिक, मोती आदि वस्तुओं की चोरी निर्जीव चोरी है। कर या महसूल की चोरी का भी निर्जीव चोरी में समावेश होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मार्ग में पड़ी हुई ऐसी कोई निर्जीव वस्तु, जिसका कोई मालिक न हो, ले लेना भी चोरी है। किसी के घर या खेत पर अनुचित रीति से अपना कब्जा जमा लेना—क्षेत्र की चोरी कही जाती है। वेतन, किराया, व्याज आदि देने-लेने में समय की न्यूनाधिकता बताना काल की चोरी है। किसी कवि, लेखक या वक्ता के भावों को लेकर अपने नाम से लिखना भाव चोरी है।

मालिक की गैर हाजिरी में ताला तोड़ कर या जेब काट कर कोई वस्तु ले लेना जैसे चोरी कही जाती है, वैसे ही उनकी मौजूदगी में युक्तियों द्वारा कोई वस्तु छीन लेना भी चोरी है। यह चोरी सभ्य चोरी कही जाती है जबकि पहली चोरी असभ्य। आज जन-समाज का बड़ा वर्ग असभ्य चोरी करते हुए तो हिचकिचाता है, परन्तु सभ्य चोरी करने से क्या कोई हिचकिचाताहै? सभ्य चोरी के इस प्रकार में से तो शायद ही कोई बचा रह सकेगा ? अपनी बुद्धिमानी से दूसरों की वस्तुओं पर अधिकार जमाना और शोषण करना आदि का सभ्य चोरी में ही समावेश होता है। किसी की जेब में से यदि कोई पैसा निकाल ले तो वह सजा का पात्र होता है। परन्तु करोड़ो मानवों का शोषण कर करोड़ो रुपया एकत्रित करने वाला निर्दोष समझा जाता है। यह कैसा अन्धेर है ? भले ही पीनल कोड में इसकी कोई कलम न हो, परन्तु धर्म-शास्त्र तो कहते हैं कि यह चोरी ही नहीं, महाचोरी है।

ठगाई करना भी चोरी है। एक लेखक ने लिखा है कि 'He who purposely cheats his friend, would cheat his God. अर्थात् जो व्यक्ति अपने मित्र को ठगता है, वह एक दिन ईश्वर को भी ठगेगा। दूसरे एक लेखक ने लिखा है कि— Dishonesty is a forsaking of permanent for temperary advantages अर्थात् अप्रामाणिकता बताना या चोरी करना, यह क्षणिक लाभ के लिये शाश्वत श्रेय को गुम कर देने जैसा है।

अपने हक के अतिरिक्त की वस्तु चाहे जिस प्रकारसे ले लेना चोरी है। कोई सरकारी नौकर किसी का काम करके उसके बदले में रिश्वत या इनाम ले तो यह भी चोरी है। आढ़त

या दलाली, मकान का किराया, नफा, रुपयों का व्याज आदि मर्यादा से अधिक लेना या दूसरी तरह से शोषण करना— मूर्ख लोगों को समझा-बुझाकर उनके घर या खेतों पर अपना कब्जा कर लेना भी चोरी है। सामने वाला आदमी भूल से अधिक दे जाय, तो वह रख लेना भी चोरी है। भागीदार को विना वताये दूसरा अपना स्वतन्त्र धन्धा करना भी चोरी है। किसी दूसरे की रकम को अपने नाम से दान जाहिर करना भी चोरी है।

अपने असाध्य रोग की खवर होने पर भी वीमा करना यह भी एक तरह की चोरी ही है। अपने रोग को छुपाकर वह बीमा वाले को ठगता है। डाक्टर को रिश्वत देकर झूठा सार्टिफिकेट प्राप्त करता है। अतः,ऐसी चोरी से भी वचना चाहिये। वंगाल में एक सद्‌गृहस्थ का प्रसंग है—उसने एक वार अपना वीमा करवाया और पहला प्रीमियम भी भर दिया। उसके वाद उसे यह पता चला कि उसे 'मधु प्रमेह का रोग है। यह जानते ही उसने वीमा कम्पनी को पत्र लिखा कि 'मुझे 'मधु प्रमेह' का रोग है। अतः मेरा वीमा केन्सल कर देना।' उसके मित्रों ने ऐसा करने से मना किया, पर वह न माना। उसने कहा—यदि मैं यह वात वीमा कम्पनी को न वताऊं तो मैं उसका चोर वनूं और इस चोरी का धन मेरी सन्तानों को मिले। इससे तो मेरी सन्तानें मजदूरी करके अपना पेट भरे, यही मैं ज्यादा अच्छा समझता हूँ। यह सुनकर उसके मित्र भी उसके त्याग की प्रशंसा करने लगे।

एक वार जव हम विहार में थे, तव एक छोटे से गाँव में रात को चोर आये। ये चोर अनाज चोरने आये थे। चोरों की

आवाज से सारा गाँव जग पड़ा और लकड़ी तथा बन्दूकें लेकर चोरों का पीछा किया। सब चोर भाग गये, पर एक चोर पकड़ा गया। जिसे उन्होंने हमारे बाजु के कमरे में हाथ-पांव बाँधकर डाल दिया और ऊपर से ताला भी लगा दिया। इतना बन्धन होने पर भी पाँच-सात आदमी पहरा देने के लिये वहाँ लकड़ी लेकर बैठ गये। चोर को इतनी मजबूती से बाँधा गया था कि वह इसे सहन कर न सका और चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगा कि महरबानी करके मेरे ये बन्धन ढीले कर दो, मुझे तलवार से मारना चाहो तो मार दो, पर इन बन्धनों को खोल दो, इनका दुःख मुझसे सहन नहीं हो रहा है। सारी रात वह इसी प्रकार चिल्लाता रहा, पर किसी ने उस पर ध्यान नहीं दिया। यह सच है कि समाज में चोर घृणास्पद माना जा रहा है और इसी से उसे सजा भी दी जाती है, परन्तु जो यंत्रों के बल से गरीबों की आजीविका चुरा लेते हैं। उसे समाज साहूकार कैसे मानता है? क्या वे पानी भरने वालों की, चक्की पीसने वालों की, आजीविका चुरा नहीं लेते हैं? फिर भी इन यंत्रों द्वारा लूट मचाने वालों के लिये न कोई कोर्ट कचहरी है और न किसी तरह की पाबन्दी ही रखी गई है। क्या यह शिक्षित समझे जाने वाले समाज के लिये लज्जास्पद नहीं है? ताश के पत्तों से एक पाई का जुआ खेलने वाला भी जब जुआरी माना जाता है, तब बाजारों में लाखों की हार-जीत करने वाला साहूकार कैसे माना जा सकता है? वास्तव में देखा जाय तो आज समाज में चोर और साहूकार की पहिचान यथार्थतः देखने में आती हीं नहीं है।

आजकल समाज में चोरियाँ बढ़ती जा रही हैं। पाप चोरी

करने वाले को तो लगता ही है परन्तु परोक्ष रूप में वे मनुष्य भी इस पाप के थोड़े भागीदार बनते हैं, जो समाज की परिस्थिति की तरफ ध्यान नहीं देते हैं। आज एक तरफ कारखाने माल पैदा कर रहे हैं, तो दूसरी तरफ उद्योगपति और श्रीमन्तों की शोषण नीति और संग्रहवृत्ति प्रतिदिन नये नये चोरी के तरीके पैदा कर रही है।

मालवा का यह एक प्रसिद्ध उदाहरण है। धारा नगरी के सेठ- जिनदास एक बार धर्मस्थानक में सामायिक करने गये। धर्मस्थानक में जाकर उन्होंने अपने वस्त्र उतारे और साथ में एक कीमती हार भी उतार कर वस्त्रों में रख दिया। फिर वे साम-यिक करने बैठ गये। यह सब एक गरीब वणिक देख रहा था। उसके स्त्री-बच्चों को तीन दिन से खाने को नहीं मिला था। इस लिये उसने विचार किया कि 'यदि मैं यह हार ले लूं तो कोई भी इस पर मुझे रुपये दे सकेगा और मैं उन रुपयों से धंधा कर अपनी आजीविका सुख से चला सकूँगा। जब मेरे कुछ अच्छे दिन आ जावेंगे, तब यह हार छुड़ा कर वापिस सेठजी को दिया जा सकेगा। पक्षी सरोवर में से पानी पी जाय तो जैसे सरोवर का पानी घटता नहीं है, वैसे ही सेठजी के अखूट धन में से यदि मैं यह हार ले लूँगा, तो वह कुछ कम होने वाला नहीं है। फिर, मैं इसे हजम करना तो नहीं चाहता हूँ, मुझे तो यह हार वापिस व्याज सहित दे देना है। ऐसा सोचकर उसने सेठ का हार निकाल लिया और चलता बना। घर जाकर उसने अपनी स्त्री से बात कही और उसकी सलाह से उसने वह हार सेठ जिनदास के यहाँ ही गिरवी रखने का निर्णय किया।

सेठ सामायिक करके उठे, तो हार मिला नहीं। उन्होंने सोचा शायद घर पर ही रह गया होगा। वे घर आये और वहाँ शोध की। परन्तु हार मिला नहीं। उनकी लड़की ने कहा—हार तो आप पहिनकर ही स्थानक में गये थे। सेठ विचार में पड़ गया। उपाश्रय में तो सिवाय एक वणिक के और कोई नहीं था। क्या वह हार उठा ले गया होगा? सेठ इसका विचार कर ही रहे थे कि इतने में वह वणिक हार लेकर सेठ के पास आया और उसे गिरवी रख कर ब्याज से रुपये देने की प्रार्थना करने लगा। सेठ धनवान् ही नहीं, बुद्धिमान भी था। वे सारी परिस्थति समझ गये। उन्होंने कहा—'भाई! हार गिरवी रखने की कोई जरूरत नहीं है। रुपये चाहिये तो यों ही अंग-उधार ले जाओ।' वह भाई बिना हार गिरवी रखे रुपये लेना नहीं चाहता था। अतः अन्त में सेठ ने हार रख कर उसे रुपये दे दिये।

उसके चले जाने पर सेठ ने विचार किया कि 'उसने हार चुरा लिया, इसमें उसका दोष नहीं है। यह तो मेरा ही दोष है। मैं जाति का सेठ कहा जाता हूँ तो हर एक जातिभाई की परिस्थिति का मुझे ज्ञान होना चाहिये। यदि कोई बेकार है, तो उसे किसी भी तरह का काम देने के लिये मुझे जागृत रहना चाहिये इस तरह सेठ खुद ही पश्चात्ताप करने लग गये।

उस भाई ने प्रामाणिकतापूर्वक धन्धा शुरू कर दिया। व्यापार ठीक चल निकला और कुछ ही समय में उसने काफी पैसे भी जमा कर लिये। अब उसे सेठ के रुपये रखने की आवश्यकता नहीं थी। अतः एक दिन वह रुपये चुकाने के लिये सेठ के पास गया। सेठने उससे रुपये ले लिये और उसका हार उसे वापिस सौंप दिया। उस भाई ने कहा—सेठजी! यह हार तो

आपका ही है। विषम परिस्थिति में, मैं अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का भान ही भूल गया था और आपका हार उठा लिया था। अब वह मुझे वापिस लौटाने का नहीं है।

सेठने कहा—भाई, यह हार अब मेरा नहीं रहा है। क्योंकि जब मैं सामायिक में था, तब तुमने मेरा यह हार लिया था उस समय मैं सभी वस्तुओं का त्याग करके बैठा था। इस हार पर भी मेरा स्वामित्व नहीं था। अतः यह हार मेरा नहीं कहा जा सकता है।

अन्त में जब दोनों में से कोई भी उसे रखने को तैयार नहीं हुआ तब उस हार का मानव-सेवा के कार्य में दान कर दिया गया।

एक बार एक ज्ञानी मुनिराज का वहाँ पधारना हुआ। जिनका व्याख्यान सुनने के लिये धारा नगरी की प्रजा काफी संख्या में एकत्रित हुई थी। मुनिश्री ने व्याख्यान देते हुए कहा—मनुष्य से भूल हो जाना स्वाभाविक है, परन्तु अपनी भूलों के लिये पश्चात्ताप करने से तथा पापों का प्रायश्चित्त करने से वह अपने पाप के भार को हल्का कर शुद्ध बन सकता है।

यह वचन सुन कर हार ले जाने वाला वणिक खड़ा हो गया और हाथ जोड़ कर मुनिराज से प्रार्थना करने लगा—गुरुदेव! मेरे से एक पाप हो गया है, जिसका प्रायश्चित मैं आप से लेना चाहता हूँ। मैंने अपनी विषम परिस्थति से परेशान होकर तथा स्त्री एवं बच्चों को कई दिवस भोजन तक नहीं मिल सकने से, सेठ जिनदास का एक सोने का हार उनकी बिना आज्ञा के उठा लिया था। इसलिये मुझे इसका प्रायश्चित दीजियेगा, गुरुदेव!

यह सुन कर उसकी पत्नी खड़ी हुई और बोली–गुरुदेव ! मेरे पति को प्रायश्चित देने से पूर्व मुझे प्रायश्चित दीजियेगा, क्योंकि उस पाप का निमित्त मैं ही हूँ। यदि मैंने विलासी वस्त्राभूषणों के पीछे फिजूल खर्च न कर सामाजिक खर्चालू रूढ़ियों के पालन का दुराग्रह न रखा होता, तो मेरे पतिदेव के लिये ऐसा प्रसंग ही उत्पन्न नहीं होता। अतः पाप की जुम्मेवार मैं ही हूँ, मुझे प्रायश्चित देकर शुद्ध बनाइये।

इतने में जिनदास सेठ ने खड़े होकर कहा–महाराज ! मुझे भी प्रायश्चित दीजिये। क्योंकि इस पाप में मेरी भी जवाबदारी कुछ कम नहीं है। संघपति के नाते मुझे सब जाति बन्धुओं का ध्यान रखना चाहिये था। परन्तु मैं अपना यह कर्त्तव्य भूल गया। इसी से इस भाई को विवश होकर यह करना पड़ा। खर्चालू रूढ़ियों के लिये भी श्रीमन्त वर्ग ही जवाबदार है। यदि हम ही ऐसी कुरूढ़ियों को बंद कराने में पहल करें, तो गरीबों पर व्यर्थका बोझ न पड़े और उनकी स्थिति विषम न हो। अतः मुझे भी इसके लिये प्रायश्चित दीजियेगा।

धारा नगरी के नरेश भी व्याख्यान में उपस्थित थे। यह सब सुनकर उन्होंने कहा–महाराज ! मेरे राज्य में होने वाले पापों का जवाबदार मैं ही हूं। प्रजा को संस्कारी और शिक्षित नहीं बनाने से, कुरूढ़ियों पर प्रतिबंध नहीं लगाने से तथा बेकार आदमियों की तरफ असावधानी रखने से ही समाज में ऐसे पाप बढ़ते जाते हैं। इन सबके लिये मैं ही जवाबदार हूँ। अतः आप मुझे प्रायश्चित्त दीजियेगा।

अन्त में मुनि ने कहा—भाइयो ! आप सबके अपराधों से भी मेरा अपराध बड़ा है। क्योंकि मैंने कभी सच्ची परिस्थिति

वताने का और उसे सुधारने का प्रयास ही नहीं किया है। अपनी मान-प्रतिष्ठा वढ़ाने के लिये आज तक मैंने झूठे आडम्वरी और आश्रव-जनक उत्सव कराने में ही अपना समय तथा शक्ति का दुरुपयोग किया है। अतः प्रायश्चित का सच्चा अधिकारी तो मैं ही हूँ।

सुतराम्, मुनिराज, धारानरेश, जिनदास सेठ, वणिक और उसकी धर्मपत्नी क्रमशः अपनी अपनी भूलों के लिये प्रायश्चित ले शुद्ध वनते हैं।

वहने वाली हवा सबके लिये है, सव उसका उपयोग कर सकते हैं। उस पर कोई अपना अधिकार जमा कर दूसरों को श्वास नहीं लेने दे, तो कहिये कैसी अव्यवस्था फैल जाय? नदी का वहता नीर सवकी तृषा शांत करता है। पशु-पक्षी, मानव आदि सभी अपनी इच्छानुसार अप्रतिवंध रूप से नदी के नीर का उपयोग करते हैं। फिर भी कोई मनुष्य उस पानी पर अपना अधिकार जमा कर अन्य पशु-पक्षियों को वह पानी न पीने दे तो? वन के फल-फूल और घास का पशु-पक्षी अपनी क्षुधा अनुसार उपयोग करते हैं। उसमें किसी भी तरह का प्रतिवंध नहीं है। वृक्ष की छाया का उपयोग सभी एक समान ही करते हैं। उस पर कोई अपना ताला नहीं मारता है। इस तरह जैसे हवा, पानी आदि कुदरती चीजों पर कोई अपना अधिकार जमावे, तो दुनिया में अव्यवस्था फैल जाती है और जीना कठिन हो जाता है, वैसे ही धन, धान्य आदि वस्तुओं पर भी किसी का विशिष्ट अधिकार नहीं होना चाहिये। उनके उपयोग का भी सवको समान अधिकार होना चाहिये। जव से मानव ने प्राकृतिक वस्तुओं पर अपना अधिकार जमाया है, तभी से दुनिया में अव्यवस्था पैदा हुई है। जो

वस्तु प्रकृति उत्पन्न करती है, उस पर अपना अधिकार कर बैठना चोरी नहीं तो और क्या है ? आज आप सब 'मालिकी, हक और अधिकार' की दुनियाँ में रह रहे हैं। अतः आपको मेरा यह कथन जरा कठोर प्रतीत होगा, परन्तु पशु पक्षी की तरह जब तुम्हारा जीवन स्वाभाविक और मालिकी हक बिना का बनेगा, तब तुम्हें इन प्राकृतिक वस्तुओं पर अधिकार जमाने की बातों पर हंसी आये बिना नहीं रहेगी।

बीमार का दर्द मिटाने के लिये चिकित्सक को पहले बीमारी का विचार करना पड़ता है। जैसे कारण जाने बिना रोग का निदान बराबर नहीं हो सकता है और न रोग ही मिटाया जा सकता है। वैसे ही आज समाज में चोरी का रोग बढ़ गया है। उसे अगर दूर करना है, तो चोरी करने की बढ़ती हुई मनोवृत्ति का मूल शोधने की आवश्यकता है। चोरी का अन्तरंग कारण खोजेंगे तो, प्रतीत होगा कि उसका मूल इस बढ़ती हुई द्रव्य लोलुपता में ही रहा हुआ है। जिसके पास आज ५० रुपये हैं वह १०० रु० कमाने की फिराक में है। सौ रुपये वाला हजार और दस हजार वाला एक लाख करने की लालसा में फँसा हुआ है। पैसों की इस दौड़धूप में मनुष्य नीति और प्रामाणिकता को भी भूल गया है और येन केन प्रकारेण धन-संचय करने की ओर ही लगा हुआ है। इस प्रकार 'द्रव्य-लोलुपता' ही चोरी का अंतरंग कारण है।

चोरी करने के मुख्य चार वाह्य कारण हैं। जिन में बेकारी प्रथम कारण है। काम-धन्धा नहीं मिलने से, बेकार हो जाने से और अपनी आजीविका नहीं चला सकने से कई मनुष्य चोरी करना सीखते हैं। जो खानदानी और प्रामाणिक मनुष्य

होते हैं, वे तो मरण पसन्द करते हैं, पर चोरी करना कभी नहीं चाहते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं। अधिकांश वर्ग तो बेकारी से घबरा कर, काम धन्धा नहीं मिलने से आखिरकार पेट का खड्डा भरने के लिये ही चोरी का मार्ग ग्रहण करते हैं।

फिजूलखर्ची भी चोरी करना सिखा देती है। अधिकांशत: श्रीमन्तई में मनुष्य फिजूलखर्ची बन जाता है। एक बार हाथ के खुले हो जाने पर फिर उसे काबू में रखना कठिन हो जाता है। अपव्ययी के पास पैसा टिकता नहीं है, और जब वह निर्धन हो जाता है, तब वह अपनी फिजूल खर्ची की आदत से चोरी करने लग जाता है। कई मनुष्य जुआ, सट्टा, फीचर आदि में जब धन गँवा बैठते हैं, तब उनकी स्थिति बड़ी विषम हो जाती है। ऐसे मनुष्यों को काम-धन्धा करना अच्छा नहीं लगता है। इससे वे भी चोरी करना शुरू कर देते हैं। कई मनुष्य कुव्यसनों में धन को बरबाद कर देते हैं और फिर उनकी पूर्ति के लिये चोरी करने लग जाते हैं।

कई मनुष्य लग्नादि प्रसंग में कर्ज ले पैसा खर्च करते हैं, परन्तु बाद में जब उसे चुकाना पड़ता है, तब चोरी का मार्ग ग्रहण करते हैं। इस प्रकार किसी भी प्रकार की फिजूल खर्ची या निरर्थक खर्च मनुष्य को अनैतिक मार्ग पर खींच ले जाता है। आज के मनुष्य दुनिया की नजरों में, जो चोरी कही जाती है, उससे भले ही दूर रहें, पर शोषण और अनीति की सभ्य चोरी की तरफ तो वे भुकते ही हैं। चोरी का तीसरा कारण है— मान प्रतिष्ठा। मनुष्य बड़ा बनने के लिये लग्नादि प्रसंग में बहुत खर्च करता है। परन्तु यह सब धन वह पैदा कैसे करता है?

अनीति और शोषण द्वारा ही तो वह सब धन कमाया होता है न ?

चोरी का चौथा कारण है स्वभाव। अशिक्षा और कुसंगति से कई मनुष्यों को आदत चोरी करने की पड़ जाती है।

चोरी करने के ये कारण पूज्य जवाहरलालजी ने अपने अस्तेयव्रत में फरमाये हैं। सुव्यवस्थित राज्य इन सभी चोरियों को रोक सकता है। बेकारी, दुर्व्यसन और सामाजिक कुरूढियों को दूर कर, प्रजा की बाल्यावस्था से ही अच्छा शिक्षण प्रदान कर सरकार अपनी प्रजा का नैतिक स्तर उन्नत बना सकती है।

चोरी का अंतरंग कारण द्रव्यलोलुपता है, जो कि संतोषवृत्ति प्राप्त करने से ही दूर हो सकती है। वह संतोषवृत्ति धर्माचरण से ही प्राप्त की जा सकती है।

आज के प्रगतिशील युग में चोरी करना बड़ा भारी कलंक है। इसको बन्द करने का एक ही उपाय है, जो कि ऊपर कहा जा चुका है। जेल या सजा चोर को कष्ट दे सकेंगे, पर उनसे चोर की 'चोरवृत्ति' दूर नहीं की जा सकती है। इसको दूर करने का सच्चा मार्ग तो धर्म ही बताता है।

अस्तेय व्रत के आदर्श पर चलने वालों के पवित्र उदाहरण आज भी हमको कभी कभी मिल जाते हैं। कुछ महीनों पूर्व की यह बात है। अमरावती के एक श्रीमन्त गृहस्थ अपने काम-काज के लिये बम्बई आये थे। वे सुबह से शाम तक बम्बई में उपनगरों और बाजारों में मोटरटैक्सी द्वारा फिरते रहे और शाम को अपने निवास स्थान—माधवाश्रम में आ गये।

मोटर चली गई तब उन्हें याद आया कि पाकिट तो मोटर में ही रह गया है। पाकिट में १० हजार रुपये के नोट और कुछ जरूरी कागज भी थे। टैक्सी का नम्बर या ड्राइवर का नाम वे जानते नहीं थे। अतः किसी तरह की जाँच नहीं की जा सकती थी।

टैक्सीवाला भी सीधा घर चल पड़ा। उसने मोटर गेरेज में रखी और घर चल दिया। सुबह जब वह मोटर धोने लगा तो उसकी नजर पाकिट पर पड़ी। उसने तुरन्त उसे उठाया और अपने घर में इष्ट देव की मूर्ति के सामने रख दिया। फिर माधवाश्रम में फोन कर उस भाई को बताया कि कल टैक्सी में ही पाकिट रह गया था। मैंने तो अभी उसे देखा है, आपको उसकी चिन्ता में रात भर नींद नहीं आई होगी। अब आप चिता न करें, मैं अभी पाकिट लेकर आता हूँ।

गृहस्थ की खुशी का ठिकाना न रहा। उसने कहा–मुझे अपना पता दो, मैं ही तुम्हारे यहाँ आता हूँ।

वह गृहस्थ टैक्सी वाले के यहाँ गये और अपना पाकिट लेकर टैक्सी वाले को ५०० रु० देने लगे।

टैक्सी वाले ने कहा—इसमें मैंने आप पर उपकार नहीं किया है। मैंने तो केवल अपना फर्ज अदा किया है। इसके लिये पाँचसौ रुपये लिये जा सकते हैं भला ?

टैक्सी वाले ने रुपये वापिस दे दिये। अन्त में गृहस्थ ने अत्याग्रह से उसे १०० रु० का एक नोट दिया और वापिस अपने स्थान पर चले आये।

कहिये ! टैक्सी वाले की अचौर्यवृत्ति कैसी रही ? दूसरे की वस्तु को कुछ समय के लिये भी अपने अधिकार में नहीं रखने

की भावना से ही उसने वह पाकिट जब तक मालिक न आवे वहाँ तक अपने इष्टदेव के चरणों में रख दिया था। अचौर्यवृत्ति का यह कितना बड़ा आदर्श है ?

चोर भी जब सुधर जाते हैं, तब श्रीमन्त क्या अपनी मनोवृत्ति को नहीं बदल सकते हैं ? जर्मनी का एक चोर किसी श्रीमन्त के यहाँ चोरी करने गया। परन्तु घर में प्रविष्ट होते ही उसे यह विचार आ गया कि मेरा यह धंधा नीच है, मुझे यह छोड़ देना चाहिये। उसने पुलिस स्टेशन पर फोन किया कि मैं यहाँ चोरी करने आया हूँ। अतः तुम आकर मुझे पकड़ लो।

इस प्रकार एक चोर को भी चोरी करने के स्थान पर सद्बुद्धि सूझती है। साहूकारों को अपनी पेढी पर, अपने धर्मस्थानों पर, सद्बुद्धि सूझा करे तो कितना अच्छा हो ? वर्तमान में काला बाजार, इन्कमटैक्स, सेलटैक्स आदि की चोरी पकड़ने के लिये सरकार को करोड़ों रुपयों का खर्च करना पड़ता है। इनमें व्यय होने वाले समय और शक्ति का देशोद्धार के लिये उपयोग किया जा सके तो प्रजा आजादी का वास्तविक अनुभव कर सकती है।

इस व्रत के पांच अतिचार हैं—'स्तेन-प्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः,

स्तेन-प्रयोग—किसी को चोरी करने की प्रेरणा देना अथवा उसके काम में सहमत होना इस अतिचार का दोष है। काला बाजार से चोरी का अनाज लेकर किसी ने जीमनवार किया हो, उसमें जीमने जाना भी चोरी में सहमत होने जैसा ही है। कई

मनुष्य लग्नादि प्रसंग पर रूढियों के वशीभूत हो अथवा बड़े घर की बड़ी रीति के वशीभूत हो जीमनवार करते हैं और अज्ञानी मानवों की वाहवाही सुनने के लिये कालाबाजार करते हैं। काला-बाजार की वस्तु खरीदने वाला स्वयं तो पाप का भागीदार बनता ही है, पर साथ कालाबाजार करने वाले को भी इससे उत्तेजन मिलता है। चोरी किसी एक मनुष्य ने की हो, फिर भी उस काम में किसी भी तरह भाग लेने वाला दोषी माना गया है। इस प्रकार शास्त्रकारों ने १८ प्रकार के चोर कहे हैं। काला बाजार से वस्तुओं की बिक्री करने वाले, खरीदने वाले, रसोई करने वाले, जीमने वाले, इस कार्य की प्रशंसा करने वाले, ये सभी कम-ज्यादा अंश में चोरी के पाप के भागीदार कहे जाते हैं।

तदाहृतादान – चोर की चुराई हुई वस्तुएँ लेना तदाहृतादान है। चोरी की हुई वस्तु हमेशा सस्ती ही बेची जाती है, जिससे लेने वाले का दिल भी ललचाता है। कोई शक्कर, चावल या अन्य राशन की वस्तुएँ चोरी करके लाया हो, और आप उन्हें खरीदें, तो उससे यह अतिचार लगता है।

विरुद्ध-राज्यातिक्रम—प्रजा के हित के लिये सरकार ने जो कायदे बनाये हों, उनका भंग करना 'विरुद्ध-राज्यातिक्रम' है। अगर प्रजा इस अतिचार दोष से मुक्त रहे, तो सरकार को प्रजाहित के कार्य करना सरल बन जाय।

हिनाधिक-मानोन्मान कम-ज्यादा तोल से माप रखना या न्यूनाधिक देना इस अतिचार में आता है। आपकी दुकान पर समझदार या नासमझ वृद्ध या बालक चाहे कोई भी वस्तु खरीदने आवे तो आपको सबके साथ प्रामाणिकता का ही व्यवहार रखना चाहिये। अप्रामाणिकता का भी समय चोरी में

शुमार होता है। अनजान मनुष्यों से अधिक भाव लेना साहूकारी ठगाई है। ऐसी चोरी दिन को चोरी है। चोरी चाहे दिन की हो या रात की, चोरी ही कही जाती है। चोर उजाला हो या मैला, काला हो या सफेद, परन्तु जो चोरी करता है, वह चोर ही कहा जाता है।

प्रतिरूपक-व्यवहार—वस्तु में भेल-सेल करना या असली वस्तु के बजाय नकली वस्तु बनाकर बेचना 'प्रतिरूपक व्यवहार है, जो कि पाँचवा अतिचार है। आज लगभग हर एक चीज में भेल-सेल देखी जाती है।

घी के व्यापारी घी में वनस्पति का मेल करते हैं। दूध वाले दूध में पानी डालते हैं। शक्कर में आटा डाला जाता है। कपड़ा धोने के सोडे में चूना मिलाया जाता है। जीरा और अजवाइन में उसी रंग की मिट्टी मिलाई जाती है। जीरा में किस प्रकार मिलावट की जाती है, इस सम्बन्ध में अभी एक लेख कुछ दिनों पहले हरिजन सेवक में प्रकाशित हुआ था। घास को जीरा के आकार में काटने के कई कारखाने चलते हैं। जीरे की आकार में घास के टुकड़े किये जाते हैं और फिर उन पर गुड़ का पानी छिड़का जाता है। इस प्रकार नकली जीरा तैयार किया जाता है, जो थैली में भरकर असली जीरे के नाम से बेचा जाता है। खाने के तेल में शुद्ध किया हुआ गन्ध रहित घासलेट का तेल मिलाया जाता है। खाद्य पदार्थों में इस प्रकार जहरीली वस्तुओं का सम्मिश्रण करना कितना भयंकर काम है? क्या यह नैतिक पतन की पराकाष्ठा नहीं है? कालीमिर्च के भाव बहुत बढ़ जाने से व्यापारी लोग उनमें पपीते के बीजों का सम्मिश्रण करने लग गये हैं। गेहूँ, चावल, चना आदि में भी उसी रंग के कंकरों का

मिश्रण किया जाता है। इस प्रकार जो हिन्दू नैतिक दृष्टि से विदेशों में सबसे ऊँचा समझा जाता था, वही आज सबसे नीचा समझा जाने लगा है। दवाएँ भी नकली बनने लग गई हैं। एक डाक्टर कहते थे कि सीबाझोल की गोलियों के बदले दवा के व्यापारी चाक की गोलियाँ बेचने लग गये हैं। इसी प्रकार टाइफाइड की प्रसिद्ध गोलियाँ क्यूरो माइसीन भी नकली मिलने लग गई है। जब इन गोलियों की कीमत बहुत बढ़ गई थी, तब इनकी खाली शीशियाँ ही ४० रु० में बेची जाती थी। जिनमें नकली गोलियाँ भरी जाती थीं और फिर उन्हें असली दवा के भाव में बेची जाती थीं। कहिये, नैतिक पतन की भी कोई सीमा रही है? बीमार मनुष्यों के उपयोग में आनेवाली वस्तुओं में भी जहाँ इस तरह मिश्रण किया जाता हो तो कहिये, यह हिन्द जैसे धर्मप्रधान देश के लिये लज्जास्पद नहीं?

दैनिक या मासिक पत्रों में विज्ञापन छपाकर, वस्तुओं में जो गुण न हों, उनका अतिशयोक्ति पूर्ण उल्लेख करना भी इस अतिचार में आ जाता है।

इन अतिचारों का यदि आम प्रजा त्याग कर दे, तो पृथ्वी पर स्वर्ग उतारा जा सकता है। इन सभी अतिचारों से मुक्त बनने में ही सबका श्रेय रहा हुआ है।

४

ब्रह्मचर्य-व्रत

वाष्पयंत्र में जब भाप इकट्ठी की जाती है, तब उसमें बड़ी शक्ति आ जाती है। बड़ी बड़ी रेल गाड़ियाँ और जल-जहाज जो सारी दुनिया में चल रहे हैं वे इस वाष्प की शक्ति से ही चल रहे हैं। परन्तु यदि इस भाप को वाष्पयन्त्र में इकट्ठी न की जाय, तो यह हवा में मिल कर अपना अस्तित्व ही गंवा देती है। यही हाल हमारी आन्तरिक शक्तियों का भी है। इन्हें भी यदि संयम में न रखा जाय, तो वे तहस-नहस हो जाती हैं। इनकी शक्ति व्यर्थ चली जाती हैं। आन्तरिक शक्ति को कायम रखने के लिये संयम की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य के भंग से आत्मिक शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, जब कि इन्द्रियों के संयम से शक्तियों का संयम होता है, जिसके द्वारा महान् और अद्भुत कार्य किये जा सकते हैं। अतः ब्रह्मचर्य-व्रत की आराधना बड़ी महत्वपूर्ण और आवश्यक है।

सदाचार का पालन ही मानव-जीवन की आधार-शिला है। मनुष्य के पास विद्वत्ता हो या न हो, उस के पास लक्ष्मी हो या न हो, परन्तु उनके पास चारित्र तो अवश्य होना ही चाहिये। स्पेन्सर के शब्दों में कहें तो-Not education but character is man's greatest need and man's

greatest safeguard अर्थात् शिक्षण नहीं, पर चारित्र ही मनुष्य की सव से बड़ी आवश्यकता है, और यही उसका रक्षक भी है। एक दूसरे विद्वान् ने कहा है कि-Character is a diamond that scratches every Other diamond अर्थात् चारित्र्य एक हीरे की तरह है, जिसके द्वारा दूसरे पत्थर भी तोड़े जा सकते हैं। इसका आशय यह है कि सभी वालों को चारित्र-वल परास्त कर सकता है।

भगवान् महावीर ने कहा है कि—

मूलमेयमहम्मस्स, महादोष - समुस्सयं।
तम्हा मेहुण-संसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥

इन्द्रियों का असंयम अधर्म का मूल हैं। अब्रह्मचर्य महान् दोषों का समुदाय है। अतः साधक पुरुष को अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिये। ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है ब्रह्म की यानी सत्य या आत्मा की शोध में चर्या करना।

इस व्रत का पालन मनुष्य को दुष्कर प्रतीत होता है। परन्तु यदि दृढ़ मन से इस व्रत का पालन किया जाय, तो वह दुष्कर नहीं है। शरीर से व्रत का पालन करना आसान है, पर मन से इसका पालन करना अवश्य कठिन होता है। परन्तु मन पर अंकुश रखा जाय, और उनकी प्रवृत्तियों में सहायभूत न वना जाय, तो अन्त में मन पर भी विजय पाई जा सकती है।

चारित्र द्वारा वौद्धिक तथा आत्मिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। स्वामी विवेकानन्द का यह प्रसंग है कि एकवार वे जर्मन पण्डित डायसन के यहाँ भोजन करने गये थे। वहाँ उसकी टेवल पर एक पुस्तक पड़ी हुई थी। स्वामीजी ने उसे खड़े-

खड़े ही थोड़ी देर में सारी देख डाली। और फिर वे डायसन के साथ बातें करने लग गये। बातचीत में जब वे इस पुस्तक के ही उदाहरण कहने लगे तब डायसन ने पूछा आपने यह पुस्तक कब पढ़ी है? विवेकानन्द ने कहा—अभी थोड़ी ही देर पहले। यह सुन कर डायसन को बड़ा आश्चर्य हुआ। विवेकानन्द ने कहा—'इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मैं तो अध्याय के अध्याय ही एक साथ पढ़ता हूँ।' आपने देखा होगा कि छोटा बालक एक एक अक्षर पढ़ता है, पर बड़े आदमी की नजर में सारी लाईन एकदम समा जाती है। परन्तु विवेकानन्द की आँखे तो सारा पैराग्राफ ही एकदम पढ़ सकती थी। कहिये, यह शक्ति उन्हें कहाँ से मिली? कहना ही पड़ेगा, कि इस शक्ति की प्राप्ति उन्हें ब्रह्मचर्य से ही हुई थी। इन्द्रियनिग्रह और मन के संयम से ही ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है। लोकमान्य तिलक की आँखों में जैसी तेजस्विता थी वैसी तेजस्विता भी भाग्य से ही किसी की आँखों में होती है। ऐसी तेजस्विता भी संयम से ही प्रादुर्भूत होती है। एक समय एक बहिन लोकमान्य तिलक के पास अर्जी लिखने के लिये आई। लोकमान्य ने उसकी बात सुनी और अर्जी लिख कर दे दी। परन्तु उन्होंने आँख उठा कर भी ऊपर नहीं देखा कि वह बहिन कौन थी? महात्मा जी ने छतीस वर्ष की उम्र से ब्रह्मचर्य का पालन करना शुरु किया था, और इसके बल से ही वे चालीस करोड़ की प्रजावाले महान् देश की स्वाधीनता प्राप्त करने में सफल बन सके थे।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप में विचरण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का व्रत सदाचार के लिये है, और सदाचार ही जीवन की नींव है। ब्रह्मचर्य के भंग से वीर्य का नाश होता है, जिससे

मनुष्य वीर्य-हीन, पुरुषार्थ-हीन और वल-हीन वन जाता है। पुरुषार्थहीन प्रजा धर्म का आचरण नहीं कर सकती है। अशक्त प्रजा देश का उद्धार भी कैसे कर सकती है? इस प्रकार वलहीन प्रजा द्वारा कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता है। इन सब वलों का आधार ब्रह्मचर्य के ऊपर ही रहा हुआ है।

ब्रह्मचर्य-पालन के लिए अधिक से अधिक संयमी जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता रहती है। विकारों से वचने के लिये विलासी वातावरण से दूर रहना चाहिये। अपने घरों में विकारोत्तेजक चित्र नहीं रखने चाहिये। इस तरह के खान-पान, वार्तालाप, साहित्य-पठन और संगीत-श्रवण से भी दूर रहना चाहिये। विज्ञान के इस युग में दीपक पर जैसे पतंगे गिरते हैं, वैसे ही सिनेमा और नाटकों के पीछे लोग पड़े हुए हैं। नाटक और सिनेमा के दृश्य संयमी जीवन के लिये लगभग निन्यानवें प्रतिशत वाधक सिद्ध होते हैं। इस व्रत की आराधना करने वालों को स्त्री-पुरुषों का स्पर्श हो, ऐसे भीड़ भड़क्के में नहीं जाना चाहिये। रेल्वे, ट्राम या वस से मुसाफिरी करते समय भी इस वात की सावधानी रखनी चाहिये। जिनके विचारों में पवित्रता हो, वाणी में संयम हो और व्यवहार में चारित्रशील हो, उनका सहवास ही ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक वनता है।

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श ये पाँचों इन्द्रियों के अलग अलग विषय हैं। इन विषयों के आधीन होने वाला प्राणी महान् दुःखों का उपार्जन करता है। उत्तराध्ययन-सूत्र के चौदहवें अध्ययन मे आता है, कि 'खाणि अणत्थाण उ कामभोगा' अर्थात् कामभोग अनर्थों की खान हैं। इन पांच विषयों में से किसी एक के वशीभूत हो जाने पर भी जिन्दगी का भोग देना पड़ता है, तो जो सब

विषयों के आधीन हो जाय उसकी क्या स्थिति होती होगी ? शब्द के वशीभूत हो सर्प मदारी के हाथ में आकर पराधीन बन जाता है। रूप के वश में होकर पतंगा अग्नि पर गिर पड़ता है और जल कर नष्ट हो जाता है। हाथी कागज की बनी हथिनी को स्पर्श करने के मोह में खाई में गिर पड़ता है और मृत्यु को प्राप्त करता है। रस के आधीन हो मछलियाँ जाल के कांटो में अपना शरीर पिरो देती हैं। वे सब प्राणी शब्दादिक विषयभोगों को भोगने से पहले ही भोग के भोग हो जाते हैं। एक ही विषय के आधीन बनने वाले की भी जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तब पाँचों ही विषयों के जो आधीन बन कर अठारह पापों का सेवन करने लग जाते हैं, उनकी कैसी करुणाजनक स्थिति हो जाती होगी ? दूसरे के गुलाम बन जाने पर मानव को जितनी शर्म होती है, उससे भी अधिक शर्म विषय-कषाय के गुलाम बन जाने पर होनी चाहिये। क्योंकि दूसरों की गुलामी तो शारीरिक विकास को ही रोकती है, जब कि विषय-कषाय की गुलामी तो आत्मिक विकास को भी अवरुद्ध कर देती है, और इससे आत्मा अवनति की तरफ चला जाता है।

कुशील आचरण बुरा है। वह जीवन के लिये अभिशाप के समान है। जैसे पर्वत के शिखर पर से कांच की बरनी नीचे गिर जाय, तो वह चूर-चूर हो जाती है, वैसे ही जीवन में भी सदाचार न हो तो वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। असदाचार किंपाक फल के समान दुखदायी होता है। किंपाक फल देखने में सुन्दर, स्वाद में मधुर और छूने में कोमल होता है। परन्तु वह खाने वाले के लिये मृत्यु का कारण बनता है। इसी तरह मनुष्य भी वासना-तृप्ति में आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु परिणाम में वह

मनुष्य वीर्य-हीन, पुरुषार्थ-हीन और बल-हीन बन जाता है। पुरुषार्थहीन प्रजा धर्म का आचरण नहीं कर सकती है। अशक्त प्रजा देश का उद्धार भी कैसे कर सकती है? इस प्रकार बलहीन प्रजा द्वारा कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता है। इन सब बलों का आधार ब्रह्मचर्य के ऊपर ही रहा हुआ है।

ब्रह्मचर्य-पालन के लिए अधिक से अधिक संयमी जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता रहती है। विकारों से बचने के लिये विलासी वातावरण से दूर रहना चाहिये। अपने घरों में विकारोत्तेजक चित्र नहीं रखने चाहिये। इस तरह के खान-पान, वार्तालाप, साहित्य-पठन और संगीत-श्रवण से भी दूर रहना चाहिये। विज्ञान के इस युग में दीपक पर जैसे पतंगे गिरते हैं, वैसे ही सिनेमा और नाटकों के पीछे लोग पड़े हुए हैं। नाटक और सिनेमा के दृश्य संयमी जीवन के लिये लगभग निन्यानवें प्रतिशत बाधक सिद्ध होते हैं। इस व्रत की आराधना करने वालों को स्त्री-पुरुषों का स्पर्श हो, ऐसे भीड़ भड़क्के में नहीं जाना चाहिये। रेल्वे, ट्राम या बस से मुसाफिरी करते समय भी इस बात की सावधानी रखनी चाहिये। जिनके विचारों में पवित्रता हो, वाणी में संयम हो और व्यवहार में चारित्रशील हो, उनका सहवास ही ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक बनता है।

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श ये पाँचों इन्द्रियों के अलग अलग विषय हैं। इन विषयों के आधीन होने वाला प्राणी महान् दुःखों का उपार्जन करता है। उत्तराध्ययन-सूत्र के चौदहवें अध्ययन में आता है, कि 'खाणि अणत्थाण उ कामभोगा' अर्थात् कामभोग अनर्थों की खान हैं। इन पांच विषयों में से किसी एक के वशीभूत हो जाने पर भी जिन्दगी का भोग देना पड़ता है, तो जो सब

विषयों के आधीन हो जाय उसकी क्या स्थिति होती होगी ? शब्द के वशीभूत हो सर्प मदारी के हाथ में आकर पराधीन बन जाता है। रूप के वश में होकर पतंगा अग्नि पर गिर पड़ता है और जल कर नष्ट हो जाता है। हाथी कागज की बनी हथिनी को स्पर्श करने के मोह में खाई में गिर पड़ता है और मृत्यु को प्राप्त करता है। रस के आधीन हो मछलियाँ जाल के कांटो में अपना शरीर पिरो देती हैं। वे सब प्राणी शब्दादिक विषयभोगों को भोगने से पहले ही भोग के भोग हो जाते हैं। एक ही विषय के आधीन बनने वाले की भी जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तब पाँचों ही विषयों के जो आधीन बन कर अठारह पापों का सेवन करने लग जाते हैं, उनकी कैसी करुणाजनक स्थिति हो जाती होगी ? दूसरे के गुलाम बन जाने पर मानव को जितनी शर्म होती है, उससे भी अधिक शर्म विषय-कषाय के गुलाम बन जाने पर होनी चाहिये। क्योंकि दूसरों की गुलामी तो शारीरिक विकास को ही रोकती है, जब कि विषय-कषाय की गुलामी तो आत्मिक विकास को भी अवरुद्ध कर देती है, और इससे आत्मा अवनति की तरफ चला जाता है।

कुशील आचरण बुरा है। वह जीवन के लिये अभिशाप के समान है। जैसे पर्वत के शिखर पर से कांच की बरनी नीचे गिर जाय, तो वह चूर-चूर हो जाती है, वैसे ही जीवन में भी सदाचार न हो तो वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। असदाचार किंपाक फल के समान दुखदायी होता है। किंपाक फल देखने में सुन्दर, स्वाद में मधुर और छूने में कोमल होता है। परन्तु वह खाने वाले के लिये मृत्यु का कारण बनता है। इसी तरह मनुष्य भी वासना-तृप्ति में आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु परिणाम में वह

दुखदायी ही सिद्ध होती है। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि इन आनन्द-दायक विषयों से, जो कि परिणाम में दुखदायी होते हैं, दूर ही रहें।

हमारा ध्येय आत्म प्राप्ति का है। जिसके लिये ब्रह्मचर्य पालन की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। उपनिषदों में कहा गया है कि—'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**' अर्थात् बलहीन मनुष्य आत्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता है। हमारे शास्त्रों में भी मोक्ष का अधिकार 'व्रज ऋषभनाराच संघयण' वाले को ही दिया गया है। इससे भी सिद्ध होता है कि आत्मप्राप्ति के लिये शारीरिक बल की आवश्यकता है जो कि ब्रह्मचर्य द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन को तेजस्वी बनाने के लिये ब्रह्मचर्य ही एक श्रेष्ठ साधन है। लालटेन में तेल भर कर जब उसे बत्ती के जरिये ऊपर ले जाया जाता है, तब वह प्रकाश फैलाता है। परन्तु यदि उस लालटेन के नीचे छेद हो, तो उसमें रहा हुआ तेल ऊपर जाने के बजाय नीचे जमीन में चला जायगा। तब वह न तो स्वयं ही प्रकाशित हो सकेगा और न दूसरों का ही अंधकार दूर करने में समर्थ बन सकेगा। यही हाल मनुष्य का भी है। यदि वह सदा-चारी है, तो उसका वीर्य ऊपर चढ़ेगा और उसका जीवन तेजस्वी बना देगा। परन्तु यदि वह संयम का पालन नहीं करता होगा, उसके जीवन में दुराचरण का छेद हो गया होगा, तो उसकी वीर्य शक्ति नीचे उतर कर उसका जीवन नष्ट कर डालेगी। उसे तेजोहीन बना देगी। वीर्य का ऊर्ध्वीकरण नर को नारायण बना सकता है, जब कि अब्रह्मचर्य का सेवन देव को भी दानव बना देता है, नर को वानर बना देता है।

हमारे शरीर में दो तरह की शक्तियाँ हैं। एक मस्क्युलर स्ट्रेन्थ और दूसरी नर्व स्ट्रेन्थ–अर्थात् शारीरिक शक्ति और स्नायुविक शक्ति। शरीर को पूर्ण स्वस्थ और बलवान् रखने के लिये इन दोनों शक्तियों की आवश्यकता होती है। सात्विक भोजन और व्यायाम आदि से शारीरिक शक्ति का संयम किया जा सकता है, परन्तु शरीर में रहे हुए बारीक ज्ञानतंतुओं की शक्ति तो ब्रह्मचर्य से ही बढ़ाई जा सकती है। ब्रह्मचर्य से मनुष्य की बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है। इस व्रत का पालन करने से मानव साहसिक, वीर, बलवान्, बुद्धिमान और तेजस्वी बनता है। उस में त्याग करने की शक्ति भी पैदा हो जाती है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि केवल एक इन्द्रिय का ही नहीं, परन्तु पाँचों इन्द्रियों का संयम रखने से ही इन सभी शक्तियों का संचय किया जा सकता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—"परविवाहकरणेत्वरपरिगृहिताऽपरिगृहिता–गमनाऽनंगक्रीडा–तीव्रकामाभिनिवेशाः।" अर्थात् दूसरों के विवाह, लग्न आदि कामों में रस लेना, अपनी विवाहिता कम उम्र वाली स्त्री के साथ या जिसका विवाह न हुआ हो, उसके साथ संयम न रखना, उदयमान विकारों का उपशमन न करना और अप्राकृतिक कर्म करना ये चौथे व्रत के पाँच अतिचार हैं, जिनसे ब्रह्मचर्य के साधक को अहर्निश दूर ही रहना चाहिये।

जैन युवक और युवतियों को क्रमशः २० और १८ वर्ष तक अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। जैन गृहस्थ को दूज, आठम, ग्यारस और चतुर्दशी के सिवाय आषाढी चौदस, पर्युषण पर्व के आठ दिन, कार्तिकी चौदस और फाल्गुनी चतुर्दशी

को भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। उसे आसोज और चैत्र मास की दोनों आयम्बिल की ओलियों में भी नौ-नौ दिन तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। कृत्रिम उपायों से नहीं, पर संयम से ही गृहस्थों को संतति-नियमन करना चाहिये।

विवाहित जीवन में भी दंपति चाहें, तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं। इसका उज्ज्वल उदाहरण विजयकुमार और विजयाकुमारी का है। विजयकुमार कौशंवी नगरी के धनसार सेठ का पुत्र था। वह शरीर से सुन्दर, बुद्धि से तीक्षण और स्वभाव से नम्र था। नव यौवन, शारीरिक सम्पत्ति और अखूट ऐश्वर्य होने पर भी उसे किसी पर आसक्ति नहीं थी। एक बार वह अपने पिता के साथ मुनि दर्शन के लिये गया। वहाँ मुनि के ब्रह्मचर्य के उपदेश की उस पर गहरी छाप पड़ी। व्याख्यान के बाद वह मुनि के पास गया और बोला— मुनिवर, मैं भी पूर्ण ब्रह्मचारी बनाना चाहता हूँ, परन्तु धीरे धीरे ही इस महाव्रत के महाशिखर पहुँचा जा सकता है। अतः मैं आज से ही कृष्णपक्ष में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा लेना चाहता हूँ। कृपया आप मुझे यह प्रतिज्ञा करादें। मुनि ने विजयकुमार को यह प्रतिज्ञा करा दी।

उसी नगर में लीलाधर सेठ की कन्या विजयाकुमारी भी बड़ी रूपवती और गुणवती थी। उसने भी ब्रह्मचर्य की महिमा सुनकर साध्वी से आजीवन शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा धारण करली।

प्रकृति की लीला देखिये, विजयकुमार और विजयाकुमारी का परस्पर विवाह हो गया। विजयाकुमारी को जब विजय-

कुमार की प्रतिज्ञा का पता चला तब उसने नम्रतापूर्वक उनसे कहा—पतिदेव ! जैसे आपको कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा है, वैसे मुझे शुक्लपक्ष की प्रतिज्ञा है। यह हमारा सद्भाग्य है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये यह अमूल्य अवसर सहज ही मिल गया है। अतः इसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये। विजयकुमार का भी ध्येय पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने का ही था। अतः उसने भी इस सहज मिलन को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार उन्होंने आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया था। इस आदर्श उदाहरण का जितने अंश में अनुकरण किया जा सके, करना चाहिये।

जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे विश्ववंद्य बनते हैं। शास्त्रकार भी कहते हैं कि—

देवदाणव-गन्धव्वा-जक्ख-रक्खस-किन्नरा ।
बम्भयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करन्ति तं ॥

देव, दानव, यक्ष, राक्षस, किन्नर और गन्धर्व आदि सब ब्रह्मचारी के सामने नतमस्तक हो जाते हैं। हाथों के बल से जैसे समुद्र को तिरना अशक्य होता है, वैसे ही एक जीभ से शील का गुणगान करना अशक्य है।

सूयगडांग सूत्र के छठे अध्ययन में कहा है कि 'तवेसु वा उत्तमं बम्भचेरं।' ब्रह्मचर्य सब तपों में सर्व श्रेष्ठ तप है। अतः उसकी आराधना हर एक मानव को अपने जीवन में अवश्य करनी चाहिये।

५
अपरिग्रह-व्रत

मदारी के बन्दर के गले में रस्सी बंधी हुई होती है, जिस का दूसरा छोर मदारी के हाथ में होता है। इससे यह अपनी इच्छानुसार चल-फिर नहीं सकता है। बाजार में वह कई तरह के फलफूल और मिठाइयाँ देखता है। जिन्हें देख कर उस के मुँह में पानी आ जाता है, पर वह परवश होता है। अतः उन्हें खा नहीं सकता है। तनिक भी वह इधर उधर होता है कि मदारी रस्सी खींच लेता है। जिससे वह कुछ भी अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकता है। इसी प्रकार जो मनुष्य तृष्णा की डोरी से बंधा हुआ है, उसे चाहे जितनी प्रबल इच्छा क्यों न हों, फिर भी वह धर्म की प्राप्ति नहीं कर सकता है। तृष्णा की रस्सी काटने के लिये ही यह 'अपरिग्रह-व्रत' बताया गया है। बारह व्रतों में इस का स्थान पाँचवाँ आता है।

इस व्रत के पालन करने के मुख्य दो उद्देश्य हैं-एक व्यक्तिगत आत्मविकास का और दूसरा सामाजिक व्यवस्था का।

जड़ वस्तुओं के अधिक संग्रह से मनुष्य की आत्मा दब जाती है और उसका विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अतः आत्मविकास के लिये अपरिग्रह की विशेष आवश्यकता होती है।

जब एक मनुष्य किसी वस्तु का अधिक संग्रह करता है, तब दूसरे मनुष्यों को उस वस्तु की कमी भोगनी पड़ती है। संग्रह की वजह से समाज में विषमता और अव्यवस्था उत्पन्न होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र के चौथे अध्ययन में भगवान् महावीर ने कहा है कि—

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठेव अणंत मोहे,
नेयाउयं दट्ठु-मदट्ठुमेव।

हे प्रमादी जीव ! इस लोक या परलोक में धन शरण देने वाला नहीं है। अन्धकार में जैसे दीपक बुझ जाय तो देखा हुआ मार्ग भी बिन देखे जैसा हो जाता है, वैसे ही पौद्गलिक वस्तुओं के मोहांधकार में न्याय-मार्ग का देखना और न देखना दोनों ही समान हो जाते हैं। ममत्ववृत्ति के त्याग से ही धर्म-मार्ग का आचरण किया जा सकता है।

परिग्रह सब पापों की जड़ है। जहाँ तक परिग्रह पर नियंत्रण नहीं रखा जायगा, वहाँ तक दूसरे पाप कम नहीं हो सकेंगे। संग्रहखोरी, संचयवृत्ति या पूंजीवाद आज के सभी पापों के जनक हैं। कीड़ी से लेकर राजा तक सभी आज संग्रह करने में ही मग्न हैं। मनुष्य चाहे जितने छोटे-बड़े व्रत-नियम करें, पर संग्रहवृत्ति पर नियंत्रण न रखें, तो वे सच्चे अर्थों में अपना विकास नहीं कर सकेंगे। परिग्रह अन्य ग्यारह व्रतों को भी हानि पहुँचाता है। अतः अन्य व्रतों के लिये यह कुल्हाड़े की तरह है।

अठारह पापों में परिग्रह बड़ा पाप है। अन्य सतरह पापों को करने वाला तो उनका फल स्वयं ही भोगता है और अपने साथ ही उन पापों का बोझा ले जाता है, परन्तु परिग्रह के पाप का सेवन करने वाला अपने सिर पर तो इसका बोझा ले जाता ही है, पर मरने के बाद अपनी सन्तानों के लिये भी उसका पाप छोड़ जाता है।

शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है कि **'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्'**। अर्थ सचमुच अनर्थ ही है। शास्त्रकारों ने 'अर्थ' के इतने अधिक अनर्थ बताये हैं, फिर भी इस अर्थप्रधान युग में पैसों को ही प्राण समझा जा रहा है। अपना कोई प्रियजन मर जाय, तो उसका दुःख छह महीने बाद भुला दिया जाता है, परन्तु पैसों का नुकसान होता है, तो उसका दुःख सारी जिन्दगी तक मनुष्य भूलता नहीं है। मनुष्य की आज धन के लिये जितनी प्रबल आकांक्षा है, उतनी अन्य किसी के लिये प्रतीत नहीं होती है। धनप्राप्ति के लिये कई बार मनुष्य आँसू भी बहाता है, पर क्या कोई ऐसा व्यक्ति भी है, जिसने कि सत्य की प्राप्ति के लिये कभी एक बूंद आँसू भी टपकाया हो? धन के लिये कई रात्रियों का उजागरा करने वाले क्या कभी सत्य के लिये एक घंटे का भी उजागरा कर सकेंगे?

महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम ने अपरिग्रह के सम्बन्ध में बोलते हुए क्या ही सुन्दर कहा है—

'तुका म्हणे धन आम्हां गोमांसा समान।'

अर्थात्—धन का आवश्यकता से अधिक स्नेह करना गोमांस की तरह त्याज्य होना चाहिये।

एक बार सर्वोदय के दिन विनोबा भावे ने कहा था कि 'जिस पैसे की तुम परमेश्वर की तरह पूजा करते हो, वह पैसा परमेश्वर नहीं, पिशाच है,जिसका भूत तुम पर सवार हो गया है। जो रात-दिन तुमको सताता रहता है और तनिक भी आराम नहीं लेने देता है। इस पैसा रूपी पिशाच को तुम देवतुल्य समझ कर कब तक पूजते रहोगे और नमस्कार कर उसके आगे कब तक अपनी नाक रगड़ते रहोगे।'

विष कम हो या ज्यादा, आखिर तो विष ही है। अतः वह त्याज्य होता है। इसी तरह कम या ज्यादा परिग्रह भी पाप रूप ही होता है। अतः वह भी त्याज्य है। ऐसा भगवान् महावीर ने फरमाया है। हल्का या भारी, सचित्त या अचित्त, अल्प मूल्य-वाला या बहुमूल्यवाला अनावश्यक संग्रह महादुखकारी, महा अनर्थकारी, पाप का मूल और दुर्गति बढ़ाने वाला है। यह परिग्रह काम, क्रोध, मान, और लोभ का जनक है। धर्म रूपी कल्पवृक्ष को जला देने वाला है। न्याय, क्षमा, सन्तोष, नम्रता आदि सद्गुणों को खा जाने वाला कीड़ा है। परिग्रह बोधबीज का यानी समकित का विनाशक है। और संयम, संवर तथा ब्रह्मचर्य का घातक है। यह जन्म, जरा और मरण के भय को पैदा करने वाला है। मोक्षमार्ग में विघ्न खड़ा करने वाला और कड़ुवे किंपाक फलों को देने वाला है। चिन्ता और शोक रूप सागर का बढ़ाने वाला, तृष्णा रूपी विषवल्लरी को सींचने वाला, कूड-कपट का भण्डार और क्लेश का घर है। परिग्रह को ऐसे अनेक अनर्थों का कारण समझ कर तृष्णा मात्र का त्याग कर देना चाहिये।

मांस के टुकड़े के लिये जैसे चील और कौए दौड़ादौड़ करके खींचतान करते हैं, वैसे ही पैसों के लिये भी मनुष्य दौड़ा-दौड़ और खींचतान करते हैं। इस खींचतान से ही तो युद्धों और संघर्षों का जन्म होता है। 'आरुणीकोपनिषद्' में आता है कि एक बार आरुणी ऋषि ने एक कुत्ते को दौडते हुए आते देखा। उसके मुंह में मांस वाली एक हड्डी थी। जिसे छीनने के लिये दूसरे कुत्तों ने उसे घेर लिया और दांत तथा पंजों से उसे मारने लगे। कुत्ते ने घबरा कर वह हड्डी नीचे गिरादी। जैसे ही उसने हड्डी नीचे गिराई, कुत्तों ने उसका पीछा छोड़ दिया। इतने में तो दूसरे कुत्ते ने वह हड्डी अपने मुंह में ले ली। शेष कुत्तों ने अब उसका पीछा पकड़ा, परन्तु वह भी अपनी जान बचाने के लिये हड्डी छोड़ कर भाग निकला। पीछे रहे हुए कुत्तों में भी हड्डी के लिये बड़ी देर तक लड़ाई होती रही और कई कुत्ते घायल भी हो गये। यह देख कर ऋषि ने विचार किया कि 'अहो' जो दुःख है वह ग्रहण करने में ही है, त्याग में नहीं है। जहाँ तक कुत्ते के पास हड्डी रही वहाँ तक सब उसे मारते रहे, परन्तु हड्डी छोड़ते ही वह सुखी हो गया। दैनिक जीवन में दिखाई देने वाला यह दृष्टान्त हम से कहता है कि 'ममत्व में दुःख है, सुख त्याग में ही है।'

आज एक तरफ तो मनुष्य धन के ढेर खडे कर देता है और दूसरी तरफ सैकड़ों मनुष्य निर्धन बन जाते हैं, जो कि अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं। धनवान् धन की अधिकता से विलासी जीवन व्यतीत करते हुए स्वेच्छया पतन का मार्ग ग्रहण करते हैं, जब कि गरीब भी अत्यन्त गरीबी से खाने-पीने के फांके पड़ने से पतन की ओर

अग्रसर होते हैं। संस्कृत में कहा है कि 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं' भूखा मनुष्य अनिच्छापूर्वक भी पाप के मार्ग में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार परिग्रह वृत्ति में दोनों का पतन है। एक अनुभवी ने ठीक ही कहा है कि—Our incomes are like shoes. If too small, they gall and Pitch us if too large. they make as to stumble and to trip. मनुष्य की आय की उसने जूतो के साथ समानता की है। जूते अगर छोटे होते हैं तो उससे पैरों में छाले पड़ जाते हैं और बड़े होते हैं, तो वे मनुष्य को गिरा देते है, आपका भी ऐसा ही हाल होता है। कम आय में मनुष्य प्रतिदिन कठिनाई अनुभव करता है और ज्यादा आय हो, तो वह विलासी बन कर पतन के मार्ग में चला जाता है।

उपनिषद में आता है कि—हिरण्मयेन पात्रेण, सत्यस्य-पिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।' यह एक प्रार्थना पद है, जिसमें कहा गया है कि सोने के ढक्कन से सत्य का मुँह ढंक गया है। मुझे उस सत्य के दर्शन करने हैं, अतः हे देव! तू उस सोने के ढक्कन को दूर कर दे।' एक धर्मगुरु के पास एक श्रीमन्त ने जाकर पूछा—महाराज, ईश्वर के दर्शन कैसे किये जा सकते हैं? मनुष्यों को ईश्वर के दर्शन क्यों नहीं होते हैं?

धर्मगुरु ने एक कागज पर 'ईश्वर' शब्द लिखा और श्रीमन्त से पूछा—यह क्या है? श्रीमन्त ने जवाब दिया—'ईश्वर।'

धर्मगुरु ने 'ईश्वर' शब्द पर सोने की मुहर रखकर कहा—क्या अब ईश्वर दिखता है? श्रीमन्त ने कहा—नहीं, अब नहीं दिखता है।

धर्मगुरु ने श्रीमन्त को समझाते हुए कहा—भाई, ईश्वर पर यह सोने का आवरण आ गया है, इससे मनुष्यों को ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते हैं।

कहने का आशय यह है कि सत्य-प्राप्ति या ईश्वर-प्राप्ति न होने का मूल कारण परिग्रह की ममता ही है। जैसे व्यसनी पुरुष व्यसन में मस्त रहता है। वैसे ही धन का व्यसनी भी हर समय धन के नशे में चूर रहता है। ऐसी स्थिति में सत्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

परिग्रह, गरीबों के लिये द्वेष का कारण भी बनता है। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मेहनत तो हम पूरी करते हैं फिर भी भरपेट खाने को मिलता नहीं है, न शरीर ढँकने को वस्त्र मिलते हैं और न रहने को मकान ही, जब कि श्रीमन्त बिना मेहनत के ही केवल पैसों के बल से सात-खंडी हवेली में अमन-चैन करते हैं, मोटर में फिरते हैं, बाग-बगीचों में क्रीड़ा करते हैं, मेवा-मिष्टान्न उड़ाते हैं और रेशमी वस्त्र पहिनते हैं। इस प्रकार गरीबों के मन में द्वेष पैदा होता है, जिसका मूल कारण अमर्यादित परिग्रह ही है। यंत्रवाद से पैदा की गई असमानता ही है। यही असमानता साम्यवाद को निमंत्रित कर रही है। यदि सभी परिग्रह की मर्यादा बाँध लें, तो यह असमानता दूर हो जाय, और द्वेष का कोई कारण हो न रहे। तब फिर साम्यवाद की तो आवश्यकता ही क्यों रहेगी ?

भोग का सुख बिजली की तरह चंचल है, जब कि त्याग का सुख, सूर्य के प्रकाश की तरह स्थिर होता है। फिर भी मनुष्य कैसा है जो भोग की तृष्णा को छोड़ नहीं सकता है। मनुष्य चाहे जितनी साधन-सामग्री एकत्रित क्यों न करे पर वह उन सभी का

एक साथ उपयोग तो नहीं कर सकता है। मनुष्य के पास एक के बजाय दस मोटरें भी क्यों न हों, पर बैठने के समय तो वह किसी एक में ही बैठ सकेगा। एक साथ सभी मोटरों में तो बैठने से रहा? आलमारी भरे कपड़े भी उसके पास क्यों न हों, पर पहिनेगा तो गिनती के ही न, दो-चार-पाँच? रहने के लिये चार बँगले हों, पर रहेगा तो किसी एक में ही। कोई सम्राट् सारी पृथ्वी पर विजय क्यों न प्राप्त कर ले, पर वह सारी पृथ्वी पर थोड़े ही सो सकेगा? वह तो एक शहर में ही रह सकेगा। सारे शहर को भोगने की भी उसमें ताकत कहाँ है? वह तो एक महल में भी साडे तीन हाथ की जगह ही भोग सकेगा। सही वस्तु-स्थिति यह होने पर भी मनुष्य को संग्रह करने की ऐसी बुरी आदत पड़ गई है कि वह संतोष ही धारण नहीं कर सकता। संतोष का सुखोपभोग करना तो मानों उसके भाग्य में ही लिखा हुआ नहीं है।

जो लोग यह समझते हों कि सुख पैसों से मिलता है, तो यह उनकी निरी भ्रान्ति ही है। एक विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि—The greatest humbug in the world is the idea that money can make a man happy. यह विश्वास कि पैसा मनुष्य को सुखी कर सकता है, बड़ी से बड़ी भ्रान्ति ही है। शेक्सपीयर ने भी कहा है कि—Gold is worse poison to men's souls, doing more murders in this loathsome world, than any mortal drug. अर्थात् मनुष्य को आत्मा के लिये सोना (स्वर्ण) निकृष्टतम विष है—जहर है। इस दुःखपूर्ण दुनियाँ में अन्य विषों में धन का विष अधिक रक्त बहाने वाला है। इस प्रकार पैसा सुख के बदले दुःख ही बढ़ाता है।

प्रार्थना की। ऋषि ने कहा--राजन्! यह धन किसी गरीव को दे दो।

इस बार भी वही उत्तर सुन कर राजा को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा--ऋषि ! अविनय हो जाय तो क्षमा कीजियेगा, परन्तु मुझे आपसे एक प्रश्न पूछना है। आपके पास लँगोटी के सिवाय और कुछ नहीं है, फिर भी आप यह धन दूसरे गरीबों को बाँट देने को कह रहे हैं, तो कहिये, आपसे अधिक गरीव दूसरा कौन हो सकता है।

ऋषि इस पर भी कुछ बोले नहीं और पुनः उन्होंने यही कहा कि राजन्! यह धन किसी गरीव को दे दो।'

राजा विवश हो वापिस लौटा। रात को उन्होंने सारा हाल अपनी रानी से कहा। रानी ने कहा--महाराज! आपने भूल की, ऐसे निष्परिग्रही साधु को आपके द्रव्य की क्या आवश्यकता है ? आप इसी समय उनके पास जाकर क्षमा याचना कीजिये और उनसे कोई रसायन विद्या बताने की प्रार्थना कीजिये जिससे कि प्रजा को सुखी बनाया जा सके।

राजा उसी समय ऋषि के पास गया और उसने क्षमा याचना करते हुए वोला--महाराज, मैं आपसे रसायन विद्या सीखने आया हूँ। ऋषि ने कहा--राजन्! मैं दिन में भी कभी तेरे घर नहीं आया हूँ, पर तू आज आधी रात में भी यहाँ आकर मुझ से भीख माँग रहा है। अब कह कंगाल कौन? तू या मैं?

ऋषि ने आत्म-ज्ञान का उपदेश देते हुए राजा से कहा--राजन्! आत्मिक गुणों की प्राप्ति ही सच्ची रसायन है। रसायन से लोहा सोना वनाया जा सकता है, पर आत्मगुणों की प्राप्ति

से तो नर को नारायण बनाया जा सकता है। तू अपनी प्रजा में मैत्री, मुदिता, करुणा और मध्यस्थता के गुणों का प्रचार कर। यही ठीक है। सोने-चाँदी के यदि तू अपनी प्रजा के सामने ढेर लगा देगा तो इससे वह सुखी होने वाली नहीं है। पत्ते और घास खाकर भी पेट भरा जा सकता है, फिर इसके लिये इतनी उपाधि क्यों? पेट भरने के खातिर अमूल्य समय का व्यय करना अज्ञानता है। समय और शक्ति का उपयोग तो इन दैवी सद्गुणों की प्राप्ति के लिये ही करना चाहिये।

इस प्रकार कणाद ऋषि ने राजा को सच्ची सम्पत्ति और सच्ची रसायन विद्या समझा दी। इससे आप समझ सके होंगे कि श्रीमन्त किसे कहा जा सकता है? श्रीमन्ताई लक्ष्मी या वैभव में नहीं है, परन्तु सन्तोष में ही है।

धन-सोना-चाँदी आदि बाह्य परिग्रह हैं और जैसे ये त्याज्य हैं, वैसे ही आभ्यन्तर परिग्रह भी त्याज्य हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

साम्प्रदायिकता भी एक परिग्रह है। धनवान् का धन का परिग्रह जैसे स्व-पर हानिकारक है वैसे ही साधारण जनता को साम्प्रदायिकता का परिग्रह भी हानिकर होता है। सम्प्रदायें भले ही हों पर साम्प्रदायिकता नहीं होनी चाहिये। मनुष्य को धर्मपरायण अवश्य होना चाहिये, पर धर्माभिमानी नहीं। अभिमान धन का हो या धर्म का, पतन करने वाला ही होता है। चंदन शीतल होता है, पर उसकी आग शीतल नहीं होती है। चंदन की आग भी साधारण आग की तरह ही मनुष्य को जला देती है। इसी तरह धर्म लाभदायी है, पर धर्म का जनून-धर्म का

अभिमान-हानिकारक ही होता है अतः साम्प्रदायिकता के परिग्रह का भी त्याग करना चाहिये।

सुधरे हुए वर्ग में साम्प्रदायिकता का परिग्रह तो कम हुआ प्रतीत होता है, पर उसका स्थान राष्ट्रीयता के परिग्रह ने ले लिया है। राष्ट्रीयता भी एक तरह का परिग्रह है। राष्ट्रीयता की आज जो व्याख्या की जाती है वह बड़ी संकुचित है। 'अपने राष्ट्र की भलाई के लिये दूसरे राष्ट्रों का अहित भी करना पड़े तो उसमें हिचकिचाना नहीं', यही आज की राष्ट्रीयता कही जाती हैं। ऐसी संकुचित राष्ट्रीयता से आज कई अनर्थ पैदा हो गये हैं। अतः राष्ट्रीयता के साथ विश्व-बन्धुत्व की भावना भी नहीं भुलानी चाहिये।

महात्माजी ने 'मंगल प्रभात' में लिखा है कि वस्तुओं की तरह विचारों का भी अपरिग्रह होना चाहिये। जो विचार मनुष्य को सत्य से उन्मुख करते हों या विपरीत मार्ग पर ले जाते हों उनका भी त्याग कर देना चाहिये। काम, क्रोधादि षड्रिपुओं का आभ्यंतर परिग्रह में समावेश किया जाता है।

इसके सिवाय महात्माजी ने शरीर-बल को संचित कर रखना भी परिग्रह में माना है। उनका कहना था कि शरीर में काम करने की जितनी ताकत हो उतनी ताकत शाम तक सेवा करके व्यय कर देनी चाहिये। जब तक मनुष्य थक न जाय, तब तक उसे सेवा के काम में लगे रहना चाहिये। प्रकृति उसे रात्रि के समय में नव-बल और नव-शक्ति प्रदान करती ही है। तब फिर उसे दिन में अपनी शक्ति का उपयोग सेवा के क्षेत्र में क्यों नहीं कर लेना चाहिये? जितनी तादाद में मनुष्य शारीरिक

शक्ति का संचय कर उपभोग नहीं करता है उतनी ही तादाद में उसने शक्ति का परिग्रह सेवन किया, कहा जायगा।

इस प्रकार आत्मोन्नति के इच्छुक साधकों को परिग्रह के विविध स्वरूपों को जानकर उन से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये।

हजारों वर्षों से अपरिग्रह का उपदेश दिया जाता रहा है, फिर भी आज तक समाज में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा क्यों नहीं हो सकी? यह एक विचारणीय प्रश्न पैदा हो जाता है।

समाज में देखें तो अहिंसा के प्रति आदर और हिंसा के प्रति घृणा दिखाई देती है। पहले व्रत का भंग करने वाला हिंसक सम्माननीय नहीं होता है। चौथे व्रत की मर्यादा का भंग करने वाला दुराचारी भी समाज में आदर नहीं पाता है। दूसरा और तीसरा व्रत भंग करने वाला अर्थात् झूठे लेख लिखने वाला या चोरी करने वाला भी दंडनीय बनता है। इस प्रकार अन्य सभी व्रतों का भंग करने वाला समाज में अपनी प्रतिष्ठा खो देता है और कानून के जरिये भी सजा का पात्र होता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक ही है कि पाँचवें अपरिग्रह व्रत का भंग करने वाला या अमर्यादित परिग्रह एकत्रित करने वाला समाज में घृणा का या दंड का पात्र क्यों नहीं माना जाता है? उल्टा यह देखा जाता है कि जो अधिक परिग्रही है वह समाज में अधिक सन्मानित होता है। इसका क्या कारण है?

परिग्रह के प्रति आदरभाव होना ही अनर्थ का मूल है। धन की वजह से जब तक धनवान् को सन्मान मिलता रहेगा तब तक मानव के हृदय से द्रव्य का लोभ दूर नहीं हो सकेगा।

परिग्रह का एकान्त नाश संभव नहीं है, फिर भी उसके प्रति जो आदरवृत्ति है, वह तो दूर होनी ही चाहिये।

लोग पैसे वालों को पुण्यवान् समझते हैं। जब कि शास्त्रों में परिग्रह को पाप माना गया है और इसकी गणना अठारह पापस्थानों में की गई है। पुण्य के भी शास्त्रों में ४२ फल कहे गये हैं, पर कहीं भी उनमें पैसों का नामोनिशान तक नहीं आया है। फिर कैसे धनवान् को पुण्यवान् कहा जा सकता है? परन्तु आज तो ऐसा हो रहा है। अठारह पाप-स्थानों के बदले सतरह पाप स्थान समझे जा रहे हैं और परिग्रह को पाप नहीं, पर पुण्य का फल माना जा रहा है? इतना ही नहीं, परिग्रह का पाप अधिक करने वाला उतना ही बड़ा आदमी समझा जाता है। आज के युग में परिग्रह की वृद्धि के लिये अन्य सतरह पाप भी करने पड़े तो उनको करने में मनुष्य हिचकिचाता नहीं है। दुनिया परिग्रह को ही सब कुछ मान बैठी है। इसी का यह परिणाम है कि उसे सुख की छाया भी दृष्टिगोचर नहीं हो रही है।

कोई यह कहे कि हम तो प्रामाणिकता से पैसा इकट्ठा करते हैं, इसमें क्या पाप है? यह सच है कि प्रामाणिकता से पैसा पैदा करने में अनीति के पाप से बचा जा सकता है, परन्तु परिग्रह के पाप से नहीं बचा जा सकता है। अतः प्रामाणिकता और सत्य का आश्रय लेकर भी आवश्यकता से अधिक पैसा एकत्रित करने में परिग्रह का पाप तो लगता ही है।

जैन साहित्य में ममण सेठ की एक कथा आती है। ममण सेठ बड़ी ही संकुचित वृत्ति वाला था। उसके पास अखूट धन-सम्पत्ति होने पर भी वह कभी खाता पीता या खर्च नहीं

करता था। एक बार श्रावण मास की घनघोर अंधियारी रात में पानी बरस रहा था, बिजली चमक रही थी। नदियों में बाढ़ आ रही थी। नगर-निवासी सब अपने-अपने घर में सुख की नींद ले रहे थे। राजा श्रेणिक और रानी चेलणा भी अपने राजमहल में सुख-चैन से सो रहे थे।

इतने में रानी की नींद भङ्ग हो गई। वह उठी और महल की खिड़की के पास आकर खड़ी हो गई। नदी के उस पार बिजली चमक रही थी। रानी ने उस बिजली की रोशनी में एक आदमी को देखा, जो इस भयंकर बरसात में भी नदी में बहता हुआ एक लकड़ा खींच रहा था। ठंड के मारे वह काँप रहा था। रानी को उस पर दया आ गई। उसने राजा को जगाया और कहा—महाराज! हमारे राज्य में ऐसे कंगाल मनुष्य भी बसते हैं, जिन्हें अपने पेट के खातिर ऐसी घनघोर बरसात में भी मेहनत करनी पड़ती है। यह राज्य का कलंक ही कहा जायगा। उन के दुःखों को दूर करना ही हमारा राजधर्म है।

राजा ने उस आदमी को बुलाने के लिए अपना एक नौकर भेजा। जब वह राजा के सामने आकर खड़ा हुआ तब राजा ने उससे पूछा—क्यों भाई? तुझे ऐसा क्या दुःख है, जिससे तुझे इस भयानक रात्रि में भी इतना कष्ट उठाना पड़ता है? उस आदमी ने कहा—महाराज, मुझे बैल की जोड़ी चाहिए, इसके लिये मैं मेहनत कर रहा हूँ।

राजा श्रेणिक ने कहा—अभी तो तू आराम से सो जा। सुबह राज्य की रथशाला में जाना और वहाँ से अपने पसन्द की बैल जोड़ी ले लेना।

सुवह होने पर राजा ने उसे रथशाला में भेज दिया। परन्तु वह बिना बैल लिये ही वहाँ से लौट आया और राजा से बोला—महाराज! वहाँ तो एक भी बैल ऐसा नहीं है, जो कि मुझे पसन्द आ सके। यह सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—तव तुझे कैसा बैल चाहिये?

उस आदमी ने कहा—महाराज, मेरे घर पधारिये और मेरे वैल देखिये। मुझे वसे वैल चाहिये।

राजा श्रेणिक उस आदमी के साथ-साथ उसके घर गया। अंधेरे घर में ले जाकर उस आदमी ने वैलों पर डाला हुआ कपड़ा उठाया और कहा—महाराज, मुझे ऐसे वैल चाहिये?

राजा तो वैलों को देख कर स्तब्ध हो गया। वैल सोने के वने हुए और रत्नजड़ित थे। राजा ने कहा—भाई, ऐसे बैल तो मेरा सारा राज्य वेच देने पर भी नहीं मिल सकते। यह कह कर राजा अपने महल में लौट आया। यह आदमी और कोई नहीं स्वयं ममण सेठ था। इतना द्रव्य होने पर भी उस की संग्रह-वृत्ति वेहद वढ़ी हुई थी। खर्च के भय से वह उवाले हुए उड़द के दानों के सिवाय और कुछ भी नहीं खाता था। वस, इसी संग्रह-वृत्ति से वह मर कर नरक में गया और अगणित दुःखों का भाजन वना। उस के जीवन में भोगविलास का नामोनिशान भी नहीं था। विल्कुल सादा उसका जीवन था। फिर भी उसे संचय-वृत्ति से नरक के असह्य दुःख सहने पड़े थे। संसारी जीवों को ऐसे दुःखों से वचाने के लिए ही भगवान् महावीर ने यह पाँचवाँ परिग्रह परिमाण-व्रत वताया है।

धन पर ममता भाव रखने से कई मनुष्य मर कर भी उसी घर में सर्प वनते हैं, जिन्हें परम्परानुसार पूर्वज कहा जाता

है। धन की ममता रह जाने से कई बार श्वानयोनि में, मधुमक्खी, भँवरा, कीड़ी आदि योनियों में भी मनुष्य को जन्म लेना पड़ता है।

वासना तथा ममता का ऐसा दुःखद परिणाम लक्ष्य में रख कर ही शास्त्रकारों ने परिग्रह का परिणाम रखने का और उसकी ममता छोड़ने को कहा है।

ज्ञाता-सूत्र में नन्दन मणियार का वर्णन आता है। नन्दन मणियार ने लाखों रुपये खर्च कर अपने नाम की एक वावड़ी बनाई थी, जिसमें सब तरह की अनुकूल सुविधायें मुसाफिरों के लिये उसने रखी थी। ऐसी सुन्दर व्यवस्था होने से लाखों व्यक्ति उसका लाभ लेने लग और सभी नन्दन मणियार को धन्यवाद देने लगे।

मुसाफिरों के मुँह से धन्यवाद शब्द सुनकर नन्दन मणियार मन ही मन फूला नहीं समाता था। वह जब मरा तो इस वावड़ी के प्रति उसकी आसक्ति रह गई, जिससे वह मर कर भी इसी वावड़ी में मेंढक हुआ था। वहाँ उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, जिससे उसे अपने पूर्वभव की यश-कामना के लिये बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने अपनी भूल सुधारी और जीवन पवित्र बना कर अन्त में सद्गति प्राप्त की।

यहाँ कहने का आशय इतना ही है कि लाखों का दान देना तो सरल है, पर उससे पैदा होने वाले मान का त्याग करना बड़ा कठिन है। नन्दन मणियार जैसे दानी को भी वावड़ी में ममता रह जाने से मेंढक का जन्म धारण करना पड़ा था।

कुछ लोग यह कहते हैं कि पहले धन कमा कर पीछे अच्छे काम में लगा दें तो क्या बुरा है? उनका यह ख्याल कीचड़ में

पैर डालकर धोने जैसा है। अनीति से पैसा कमा कर फिर उसका दान देना बुद्धिमानी नहीं है। और न यह खरा दान ही है। बुद्धिमानी तो इसी में है कि कीचड़ में पैर ही क्यों रखा जाय? अनीति से पैसा मिलता भी हो तो उसका त्याग कर देना ही श्रेष्ठ दान है। क्योंकि दान से भी त्याग श्रेष्ठ कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र के नववें अध्ययन में इन्द्र नमिराय ऋषि से कहते हैं कि 'पहले तुम श्रमण-ब्राह्मणों को दान दो और फिर दीक्षा अंगीकार करो।'

इसके उत्तर में नमिराज ऋषि कहते हैं कि—

जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेयो, अदीन्तस्स वि किंचण॥

अर्थात्—जो प्रतिमास दस लाख गायों का दान करता है, उससे भी एक त्यागी और संयमी श्रेष्ठ होता है। इसमें दान से भी त्याग को श्रेष्ठ बताया गया है।

इस दुनियाँ में अच्छी और बुरी दोनों प्रकृतियों के मनुष्य हैं। संग्रहवृत्ति के लिये मंमण जैसे उदाहरण मिलते हैं, तो दूसरी तरफ अपरिग्रह के भी उदाहरण दिखाई देते हैं। जैन साधु साध्वी तो सर्वथा अपरिग्रही होते हैं, जैसा कि सर्वविदित है ही, परन्तु यहाँ हम एक दूसरा उदाहरण पेश करते हैं।

गुरु गोविन्दसिंह का नाम आपने सुना होगा। सिक्खों के वे बड़े आदरणीय महापुरुष हो गये हैं। एक वार ये जमुना नदी के किनारे वैठे हुए धर्मग्रन्थ पढ़ रहे थे। इस वीच उनका एक श्रीमन्त भक्त रघुनाथदास जमींदार उनके दर्शन करने आ पहुंचा। दर्शन करके उसने दो रत्नजड़ित स्वर्ण कंगन गुरु

गोविन्दसिंह को भेंट किये। गुरु गोविन्दसिंह के लिये तो सोना और मिट्टी दोनों में अन्तर नहीं था। उन्होंने एक कंगन उठाया और अपनी अंगुली में फिराते हुए यमुना में फैंक दिया। यह देखते ही रघुनाथदास यमुना में कूद पड़ा। दो घण्टे तक खूब प्रयत्न किया, पर कंगन नहीं मिला। आखिरकार थक कर वह गुरु गोविन्दसिंह के पास आया और बोला—गुरुदेव, कंगन का पता नहीं लग सका, न जाने वह कहाँ चला गया है ?' गुरु गोविन्दसिंह ने दूसरा कंगन फेंकते हुए कहा—'देख, पहला कंगन वहाँ गिरा है।'

यह देख रघुनाथदास तो ठंडा ही पड़ गया।

ऐसे ही एक संत पश्चिम में भी हो गये हैं। उनका नाम था संत फ्रांसिस। उनके साधुसंघ का ऐसा कठोर नियम था कि कोई पैसे का स्पर्श भी नहीं कर सकता था। एक बार उनके आश्रम में एक पैसा पड़ा हुआ मिला। जिसे उनके एक शिष्य ने उठा कर ऊपर रख लिया। संत फ्रांसिस को जब यह पता चला तो उसने उस शिष्य को प्रायश्चित्त देते हुए कहा—'इस पैसे को हाथ से नहीं, पर दाँतों से पकड़ कर बाहिर फैंक आओ।' ऐसा उनका अपरिग्रह का आदर्श था।

पूणिया श्रावक बारह आने की ही पूँजी अपने पास रखता था और उसी से अपना निर्वाह करता था। उस पर एक महात्मा को दया आ गई और उसने उस के लोहे के तवे को पारस मणि के स्पर्श से सोने का बना दिया। पूणिया श्रावक को जब इस बात का पता चला तो उसने अपनी धर्मपत्नी से कहा—इस तवे का हम स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं यह पराया धन है, इसे अपने घर में कैसे रखा जा सकता है ? यह कह कर पूणिया श्रावक ने

उस तवे को मिट्टी में डाल दिया। नया लोहे का तवा कैसे खरीदा जाय ? उस के पास इतने पैसे तो थे नहीं, अतः दोनों को तीन दिन तक उपवास करके रहना पड़ा। इस प्रकार भोजन के पैसे बचा कर उसने चौथे दिन लोहे का नया तवा खरीदा और पारणा किया। उस महात्मा को जब यह पता चला तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने इस के लिए पूणिया से क्षमा याचना की।

ऊपर के इन दृष्टान्तों से पता चलता है कि गुरु गोविन्दसिंह, सन्त फ्रांसिस और पूणिया श्रावक आदि को परिग्रह के प्रति कितनी घृणा थी ? परन्तु आज तो साधारण मनुष्य भी परिग्रह का गुलाम बन कर असंयत, अनीति, अप्रामाणिकता, अन्याय आदि पापों से लेकर विश्वयुद्ध, अणुबम, हाईड्रोजन बम आदि महान् पापों का सेवन कर रहा है ! परन्तु यह याद रखिये कि जो परिग्रह की गुलामी से मुक्त हो जाता है वही शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर सकता है, दूसरा नहीं।

दान देने से त्याग करना श्रेष्ठ होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि दान नहीं देना चाहिये। जो लोग त्याग न कर सकते हों उन्हें दान, तो अवश्य करना ही चाहिये। धन का सद्व्यय किया जाय, तो वह मित्र की तरह काम करता है और दुर्व्यय दुश्मन की तरह। लोहे की तिजोरी से दान की तिजोरी ज्यादा सलामत होती है। शक्ति से अधिक दान करने वाला यदि हंसी का पात्र बन जाय तो शक्ति होने पर भी जो दान नहीं करता है उसे क्या समझा जाय ? विशेष हंसी का पात्र तो इसे माना जाना चाहिये। यहाँ यह बात भी कह देना आवश्यक है कि शुभ खाते में निकाली गई रकम शीघ्र ही खर्च

कर देनी चाहिये। उसका उपयोग करने में विलम्ब करना योग्य नहीं है।/

एक बार एक मुसलमान भाई धर्म-स्थानक में आया और हमारे गुरुदेव को वन्दना कर प्रश्न पूछने की आज्ञा चाही। गुरुदेव ने जब उसे आज्ञा दी, तो उसने कहा—आप जैसे त्यागी पुरुष ऐसे मकान में बिना देखे कैसे उतरते होंगे ?

गुरुदेव को आश्चर्य हुआ कि मुसलमान ऐसा प्रश्न क्यों पूछ रहा है ? फिर भी उन्होंने कहा—भाई, यह धर्मस्थानक है अतः हम इसमें उतर सकते हैं।' उस मुसलमान ने कहा—हाँ, यह मैं जानता हूँ कि यह धर्मस्थानक है, फिर भी इस पवित्र स्थान में शैतान का प्रवेश हो गया है। अतः आप इसमें कैसे उतर सकते हैं ? गुरुदेव ने कहा—जरा स्पष्ट कहो तो मैं समझ सकूँ कि तुम्हारा तात्पर्य क्या है ?

मुसलमान ने कहा—इस धर्मस्थानक के द्वार पर एक दानी गृहस्थ का शिलालेख लगा हुआ है। इससे इस पवित्र मकान में भी शैतान का निवास हो गया है अतः ऐसे मकान में आपको नहीं उतरना चाहिये।

कहने का आशय यह है कि दान देने वाले में मान और अहंभाव नहीं होने चाहिये। ये दोनों शैतान की तरह हैं। वर्तमान समय में पैसा देने वालों की शोहरत के लिये ऐसे शिलालेख लगाने का रिवाज सा हो गया है। परन्तु सच्चा दानी तो वही समझा जा सकता है जो अपने नाम को गुप्त रख कर ही दान देता है। इसीलिए कहा गया है कि दान देकर भी जो मौन रहता है उसका दान उत्तम दान समझा जाता है। दान देने के बाद जो

उस की जाहिरात करता है वह मध्यम दान माना गया है। दान देने से पहले ही जो जाहिरात कर दी जाती है वह अधम दान है और दान की जाहिरात कर के भी जो दान नहीं दिया गया है वह अधमाधम कहा जाता है। इन चारों प्रकार के दाताओं को क्रमशः देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गति की प्राप्ति होती है।

दान या त्याग द्वारा किसी भी तरह परिग्रह कम करना ही शान्ति का राजमार्ग है। जैसे-जैसे परिग्रह बढ़ता जाता है वैसे वैसे आत्मभाव नष्ट होता जाता है और अनात्मभाव बढ़ता जाता है। अतः आत्म-भाव की वृद्धि के लिये परिग्रह का परिमाण अवश्य बाँध लेना चाहिये।

कोई यह न समझ बैठें कि यह सब उपदेश तो धनवानों को दिया जा रहा है। हमारे पास तो धन ही नहीं है, फिर परिमाण क्या बाँधे ? धन न होने पर भी यदि वे धनवान बनने की वृत्ति रखते हैं तो वह भी परिग्रह ही है। धन के प्रति आकर्षण रखना और धनवानों की खुशामद करना भी परिग्रह ही है अतः अपरिग्रही बनने के लिये धनवान होने की वृत्ति का भी उच्छेद करना आवश्यक है।

इस व्रत में किन-किन वस्तुओं की मर्यादा करनी चाहिये, इसकी सूची भी दी गई है। खेती-बाड़ी, बाग-बगीचा आदि खुली जमीन की, घर, दुकान, कोठार आदि बने हुए मकानों की, चाँदी सोना, नकद रुपया, धान्य, पशु, नौकर-चाकर, ताँबा, पीतल आदि की मर्यादा बाँधनी चाहिये। मर्यादा से अधिक रखने का शास्त्रकारों ने निषेध किया है।

सोना-चाँदी और धन की मर्यादा की तरह धान्य की मर्यादा का भी इस व्रत में समावेश किया गया है। अनाज आदि खाद्य

पदार्थों का भी विशेष संग्रह नहीं करना चाहिये। जनहित की दृष्टि से यदि व्यापारी अनाज का संग्रह करें, तो यह दूसरी बात है, परन्तु अधिक कमाई करने की दुर्भावना से उसे अनाज का संग्रह नहीं करना चाहिये। संग्रह करने से एक तरफ तो कोठार में अनाज सड़ता रहता है और दूसरी तरफ अत्यधिक मंहगाई की वजह से गरीबों को भूखा मरना पड़ता है। अतः इन सभी वस्तुओं की मर्यादा स्व-पर कल्याण की दृष्टि से ही करनी चाहिये।

कुछ लोग परिग्रह की मर्यादा तो ले लेते हैं, पर उसमें छूट बहुत रख लेते हैं। ऐसा करने से व्रत का आशय सिद्ध नहीं होता है। सचमुच देखा जाय तो यह व्रत परिग्रह को घटाने के लिये है। हमारे पास जितना हो, उसमें से भी धीरे-धीरे कम करते जाना चाहिये। परिग्रह कम करते जाने पर ही परिग्रह परिमाण व्रत तेजस्वी बन सकता है। मानव समाज को सुखी बनाने के लिए और विविध संघर्षणों से मुक्त करने के लिए इस व्रत की नितान्त आवश्यकता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं – **क्षेत्र–वस्तु–हिरण्य–सुवर्ण धन–धान्य-दासीदास, कुप्यप्रमाणतिक्रमाः।** खेत, घर, धन-धान्य दास-दासी, सोना-चाँदी आदि की बन्धी हुई मर्यादा या उल्लंघन करना इस व्रत के अतिचार हैं। इन अतिचारों से बचते हुए क्रमशः परिग्रह को कम करते जाना ही आत्म-शान्ति को पाने का और विकास करने का राजमार्ग है।

बारह व्रतों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पाँच व्रत मूल व्रत हैं। धर्म रूपी वृक्ष के ये मूल हैं? सामायिक, पौषध, तप, आदि नियमों को तो उत्तर व्रत के रूप में माने गये हैं। धर्मरूपी वृक्ष के ये पत्ते हैं। मूल व्रतों के साथ

ही इनका पालन करना लाभदायी होता है। उनके अभाव में इनका पालन करना, मूल को छोड़कर पत्तों को पानी पिलाने का प्रयत्न करना जैसा है। अतः मनुष्य को मूल व्रतों की तरफ पहिले ध्यान देना चाहिये।

प्राणी मात्र के संरक्षक भगवान् महावीर ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नहीं बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का—आसक्ति का रखना बतलाया है।

पूर्ण-संयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना होता है। समस्त पाप-कर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है।

परिग्रह-विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्वल और रजो-हरण आदि वस्तुएं रखते हैं, वे सब एक-मात्र संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं—काम में लाते हैं। इनके रखने में किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नहीं है।

ज्ञानी पुरुष, संयम-साधक उपकरणों के लेने और रखने में कहीं भी किसी प्रकार का ममत्व नहीं करते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नही रखते।

६

दिशापरिमाण-व्रत

जिसके घर में दीपक जलता है, उसके घर में चोर नहीं घुस सकते हैं। इसी तरह जिसके हृदय में व्रत, नियम और संयम रूपी दीपक प्रकाशित रहता है, उसके हृदय में काम, क्रोध कषाय आदि कोई भी चोर प्रवेश नहीं कर सकते हैं। ऐसे पाँच व्रतों के बारे में विचार किया जा चुका है। अब छठे व्रत के बारे में यहाँ कुछ चर्चा की जा रही है।

छठा व्रत 'दिशा परिमाण' का है। अपनी त्यागवृत्ति अनुसार पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित कर के उस सीमा के बाहर अधर्ममय कार्य से निवृत्ति लेना इसका उद्देश्य है। इस व्रत का आराधक दिशाओं की की हुई मर्यादा के बाहर किसी भी प्रकार का धंधा नहीं कर सकता है।

यह व्रत पाँचवाँ अपरिग्रह व्रत का पूरक व्रत है। पाँचवें व्रत में अपरिग्रह व्रत की मर्यादा की जाती है, जब कि इस व्रत में दिशाओं की मर्यादा की जाती है। तृष्णा को घटाने के लिये और अपरिग्रह की दृढ़ता के लिये इस व्रत की आवश्यकता है। तृष्णा के जाल में न फँसते हुए, प्राप्त साधन-सामग्री में संतोष मान कर शान्तिमय, सात्विक और सेवापरायण जीवन जीने के लिये

शास्त्रकारों ने यह सरल उपाय बताया है। झूठी दौड़-धाम से बचने के लिये बारह व्रतों में इसकी खास योजना की गई है।

मनुष्य आज तृष्णा के प्रवाह में बह कर दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ लगा रहा है। वह किसी समय बर्मा के 'माणक' लेने जाता है तो किसी समय हीरा-पन्ना खरीदने। किसी समय वह एशिया का सफर करता है, तो किसी समय यूरोप और अमेरिका चला जाता है। मनुष्य आज किसी समय समुद्री मुसाफिरी करता है और मत्स्य की तरह आगबोट में बैठ कर जाता है। किसी समय वह पक्षी की तरह हवाई जहाज में बैठ कर आकाश में उड़ता है। किसी समय वह जमीन का सफर करता है और आगगाड़ी में बैठ कर पशुओं की तरह दौड़ लगाता है। इस तरह वह दिन रात दौड़-धूप करता रहता है, परन्तु घड़ी भर आराम से बैठ कर इस दौड़-धूप का उद्देश्य क्या है? इसका विचार करने की फुरसत उसे नहीं मिलती।

मनुष्य अपना वैभव बढ़ाने के लिए यह दौड़-धूप करता है। परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं है कि जिस पर यह वैभव का महल बनाना चाहता है उसका शरीर रूपी स्तम्भ ही भीतर से पोला है। एक कवि कहता है कि—

क्या सख्त मकां बनवाता है, खम तेरा तनका है पोला,
तू ऊँचे कोट उठाता है, या गोर घड़े ने मुँह खोला,
गढ़, कोट रहकला तोप, किला क्या शीश दारू और गोला,
सब ठाट पड़ा रह जायगा, जब लाद चलेगा बनजारा।

कवि कहता है कि हे मानव! तू इतनी दौड़-धूप करने से पहले जरा विचार तो कर, जिसके ऊपर तू मजबूत मकान और ऊँचा कोट किला बना रहा है, वह शरीर रूपी स्तंभ अन्दर से पोला है।

तेरे लिये कब्र ने अपना मुँह खोल दिया है, जो तू देखता नहीं है। जब तू यहाँ से विदा हो जायगा तब ये गढ़, कोट, तोप, दारू, गोला आदि सब जहाँ के तहाँ ही पड़े रह जायेंगे। इसलिये हे मानव! तू जरा ठहर और विचार कर।

शरीर के पोले स्तम्भ पर बनाया हुआ महल क्षणिक है, इसका विचार अगर मनुष्य शान्ति से बैठ कर करें, तो दिशाओं की मर्यादा बाँधने का और शांतिमय जीवन बिताने का वह निश्चय कर सकता है।

मनुष्य सोचता है कि पहले देश-विदेश में से धन कमा लाऊँ और फिर मैं आराम से रहूँगा। यह उसका भ्रम है। इस तरह आज तक क्या कोई आराम से रह सका है?

एक आदमी गंगा नदी के प्रवाह में प्रतिदिन सुबह से शाम तक हथौड़े द्वारा लकड़ी के कीले लगाने की कोशिश करता था। जैसे ही वह हथौड़ा लगाता कीला पानी में तन जाता था। दिनभर वह इसी तरह करता पर एक भी कीला नहीं लगा सका।

एक दिन उसे उपाय सूझा। बाँयें हाथ में कीला पकड़ कर दायें हाथ से हथौड़ा मारा, कीला पानी में चला गया। इससे वह बड़ा खुश हुआ। जैसे ही वह दूसरा कीला ठोकने लगा कि पहले का कीला पानी में तैरते हुए दिखाई पड़ा। उसकी इच्छा प्रवाह में कीला ठोक कर, तम्बू तानकर आराम से सो-जाने की थी। इसके लिये वह प्रति दिन सुबह में कीले और हथौड़ा लेकर आता और शाम तक मेहनत करता, परन्तु वह एक भी कीला नहीं लगा सका।

इस मनुष्य को आप कैसा कहेंगे? इसकी मूर्खता पर आपको हंसी आवेगी, परन्तु आप स्वयं ऐसी मूर्खता कर रहे हैं इसका भी आपको ध्यान है? जिस संसार-सरिता के प्रवाह में चक्रवर्ती और सम्राट् भी आराम से न सो सके, वहाँ क्या आप आराम से रहने के मनसूबे बाँध रहे हो। पानी स्थिर नहीं है उसमें किले भी स्थिर नहीं हैं, ऐसे ही आपका धन-वैभव और जीवन भी स्थिर नहीं है। अतः आप आराम से कैसे रह सकेंगे? अस्थिर वस्तुओं से आराम-प्राप्ति की इच्छा पूर्ण नहीं की जा सकती है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। आर्य पुरुषों ने इनमें से दो को अपना जीवन-ध्येय बनाया था। मोक्ष उनका साध्य था और साधन था धर्म। पाश्चात्य देशों ने काम को साध्य माना और साधन के रूप में अर्थ को अपनाया। इस कारण से उनका जीवन अर्थप्रधान बना। आज इस धर्म-प्रधान देश को भी पाश्चात्य संस्कृति की हवा लग गई है और उसका जीवन भी अर्थप्रधान बनता जा रहा है। जैसे समुद्र में सभी नदियों का विलय होता है वैसे ही 'अर्थ' के महासागर में आज सभी धार्मिक प्रवृत्तियों और सद्‌गुणों का विलय होते देखा जा रहा है।

मनुष्य में दो बड़ी वासनाएँ हैं—भोग और ऐश्वर्य। ऐश्वर्य यानी ईश्वरत्व, प्रभुत्व, सत्ता। ये दो वासनाएँ ही मनुष्य से दौड़-धूप कराती हैं। आठवें सुभूम चक्रवती के बारे में तो आप जानते हैं, छः खण्ड से भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। अतः धातकी खण्ड के छः खण्डों को भी जीतने निकला था। उसने सोचा सभी चक्रवर्ती छः खण्ड तो जीतते ही हैं, अगर उतने ही

खंड मैं भी जीतूँ, तो मेरी उनसे विशेषता क्या ? अतः वह बारह खण्ड का स्वामी बनने के लिये निकल पड़ा।

उसने अपना चर्मरत्न समुद्र में रखा। चर्मरत्न के एक हजार देवता सेवक कहे जाते हैं और वे इस चर्मरत्न को समुद्र में पानी के ऊपर तिराते रहते हैं। सुभूम चक्रवती ने अपनी सेना को समुद्र पार करने का हुक्म दिया और इस तरह धातकी खण्ड जीतने के लिये वह चल पड़ा।

एक देवता को विचार आया, यह सेना कब समुद्र को पार करेगी और कब मेरा यहाँ से छुटकारा होगा ? इसमें तो कई वर्ष व्यतीत हो जायेंगे, इसलिए जरा देवांगना से मिल तो आऊँ। यह सोच कर वह चला गया। दूसरे को भी ऐसा ही विचार आया और वह भी चला गया। एक के बाद एक यों सभी देवता चले गये। देवताओं की शक्ति से जो चर्मरत्न तिर रहा था, वह समुद्र में डूब गया। सेना सहित सुभूम चक्रवर्ती भी समुद्र में डूब गया और मरकर सातवीं नरक में गया।

ऐश्वर्य के पीछे दौड़-धूप करके मनुष्य इस तरह अपना पतन कर बैठता है।

ऐसा ही दूसरा दृष्टान्त ज्ञातासूत्र में आता है। जिनरख और जिनपाल नामक दो भाइयों को विदेश में धन कमाने के लिये जाने का विचार हुआ। उन्होंने अपनी इच्छा अपने माता-पिता को बताई। माता-पिता ने कहा—हमारे पास सात पीढ़ी तक भी न खुटे इतना धन है, तो भी देशावर जाने को और महापरिग्रह की भावना बढ़ाने की क्या आवश्यकता है ? महापरिग्रह की भावना आत्म कल्याण के लिये बाधक है, नरकादि में ले जाने

वाली है इसलिये उस भावना का त्याग करो और सन्तोष वृत्ति धारण कर धर्माराधना करो।

माता-पिता ने जिनरख और जिनपाल को इस प्रकार सलाह दी, परन्तु वह उन्हें न रुचि और वे देशावर कमाने के लिये निकल पड़े। बीच समुद्र में तूफान आया और जहाज डूब गया। भाग्य से दोनों भाइयों के हाथ एक लकड़ा आ गया जिससे वे दोनों किनारे जा लगे। परन्तु जिनरख वहाँ के विषयी वातावरण से बच न सका और अन्त में वहीं मृत्यु का शिकार हो गया। जिनपाल के हृदय में अकस्मात ही परिवर्तन हो गया और वह वहाँ से सीधा घर चला आया। परिग्रह की असारता जानकर अन्त में उसने दीक्षा धारण कर अपना आत्म-कल्याण किया।

जो परिग्रह की ममता नहीं छोड़ते हैं, उनका अन्तिम परिणाम दुःखमय होता है। जो ठोकर लगते ही सचेत हो जाते हैं और ममता का त्याग कर देते हैं, वे अपना कल्याण कर सकते हैं। जिनरख और जिनपाल की कथा का यही सार है।

सिकन्दर के वारे में कहा जाता है कि उसने सारी दुनिया को फतह कर लिया था। वह हिन्दुस्तान तक आ पहुँचा था। वापिस लौटते समय वह अपने सरदारों के बीच एक छोटे से वालक की तरह रो पड़ा और बोला—अब मुझे किसी पर भी विजय पाना शेष नहीं रहा है, इससे मुझे दुःख होता है। बन्धुओं विचार करने जैसी बात है। सारी दुनिया पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। एक विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि—

'Wordly riches like nuts, many clothes are torn in getting them. many a teeth broke in cracking them, but never a belly filled with eating them'

धन वैभव सुपारी की तरह है, वृक्ष पर से सुपारी उतारते समय कइयों के कपड़े फटे हैं, खाते समय कइयों के दाँत टूटे हैं, फिर भी सुपारी खाने से किसी का पेट तो भरा ही नहीं। यही हाल भोग और ऐश्वर्य का भी है। उसकी प्राप्ति में कई मर गये परन्तु कभी किसी ने सन्तोष अनुभव नहीं किया।

भोग और ऐश्वर्य का ममत्व सचमुच मनुष्य का पागलपन है। सिकन्दर लौटते समय बेबीलोन में ही मर गया, वह अपने देस ग्रीस में भी न पहुँच सका। भोग और ऐश्वर्य को भोगने की वात तो किनारे रह गई और वह बीच में ही काल का ग्रास होगया।

सिकन्दर की तरह मुहम्मद गजनी ने भी खूब धन इकट्ठा किया था। सतरह वार तो इसने हिन्द पर चढ़ाई की थी और जितना लूट सका उतना द्रव्य यहाँ से लूट कर ले गया। ऐसा कहा जाता है कि वह सोमनाथ के मन्दिर में से वीस मन जेवरात, दो सौ मन सोना और हजार मन चाँदी ले गया था। रोकड़ रुपयों की तो कोई गिनती ही नहीं थी। इस प्रकार उसने अखूट धन एकत्रित किया था। परन्तु मृत्यु के समय इसमें में से कुछ भी साथ नहीं ले जा सकेगा, यह विचार आते ही वह वालक की तरह रो पड़ा था। इतनी सम्पत्ति एकत्रित करने पर भी मृत्यु के समय अनाथ, निराधार वालक की तरह उसकी करुणाजनक स्थिति

हो गई थी। यह है धन-सम्पत्ति के लिए दौड़-धूप करने का अन्तिम परिणाम।

सिकन्दर ने भी मरते समय अपने प्रधानों से कहा था कि मेरे दोनों हाथ मृत्यु शय्या से बाहिर रखना और मेरी कब्र पर यह लिख देना कि सिकन्दर ने बहुत धन इकट्ठा किया और कई देश जीते थे, परन्तु वह मरते समय खाली हाथ गया था। गरीब हो या श्रीमन्त सबको एक ही तरह का धान्य खाना होता है। पानी और हवा का हरएक को समान रूप से ही उपयोग करने का मौका मिलता है। धनवान् धन खाकर जीवित नहीं रह सकते हैं। धन खाने या पहनने के काम में नहीं आता है। लक्ष्मी कोई बुढ़ापा मिटाकर जवान नहीं बना देती। इस तरह गरीब और श्रीमन्तों के खाने-पाने और पहनने के साधन तो समान ही हैं, फिर भी धन-संग्रह की तृष्णा रखी जाती है, यह एक तरह की मूढ़ता ही है।

सिकन्दर के समय में ग्रीस में डायेजिनीस नामक एक तत्त्ववेत्ता हो गया है। उन दोनों की तुलना करते हुए एक विद्वान् ने कहा है कि—

Cantentment depends not upon what we have. A Tub was large enough for Diaginous, but the world was too little for Alexander.

अर्थात् डायेजिनीस को एक टब ही पर्याप्त था, परन्तु सिकन्दर को सारी दुनिया भी छोटी मालूम देती थी। सुख संतोष में रहा हुआ है, महलों में, लक्ष्मी या सत्ता में नहीं। इसी परिस्थिति को ध्यान में लेकर शास्त्रकारों ने दिशाओं की मर्यादा

बाँधने का उपदेश दिया है। शान्तिमय जीवन बिताने का यही एकमात्र उपाय है।

आज मनुष्य दूसरे प्रांत में या दूसरे देशों में जाकर धन्धा करते हैं और वहाँ के व्यापार को अपने अधिकार में कर लेते हैं, इससे उन लोगों का धन्धा छिन जाता है। यह वृत्ति परदेशी व्यापारियों और वहाँ के निवासियों के बीच में संघर्षण पैदा कर देती है। इससे पूर्व यदि मनुष्य सभी दिशाओं की मर्यादा बाँध लेता है, तो इस प्रकार के संघर्ष उत्पन्न ही न हों।

दिशा की मर्यादा बाँध लेने से अन्य देशों से जैसे माल नहीं मंगाया जा सकता है वैसे ही उन्हें भेजा भी नहीं जा सकता। इस तरह की दिशा-मर्यादा कर ली जाय, तो दूसरे देशों पर आधार रखने की मनोवृत्ति मिट कर अपने देश को उत्पादन की दृष्टि से स्वतन्त्र करने की वृत्ति जागृत हो सकती है। विदेशी माल आना बन्द हो जाय, तो विदेशी व्यापार के केन्द्र बन्दरगाहों के लिये होने वाले विश्व-युद्ध ही बन्द हो जाय। विश्व युद्ध न हो तो अणुबम और हाईड्रोजन बम के बदले मानव हित की शांतिवर्द्धक शोध होना प्रारम्भ हो जाय। इस तरह अरबों रुपयों का विनाश रुक जाय और उसका उपयोग आम जनता की भलाई के लिये होने लगे।

पश्चिम के एक देश का बादशाह पायरस जब युद्ध करने निकला तो एक तत्त्वेत्ता ने पूछा—महाराज! आप कहाँ जा रहे हैं।

बादशाह ने उत्तर दिया—इटली को जीतने जा रहा हूँ।

तत्त्ववेत्ता ने पूछा—इटली जीत कर क्या करोगे?

वादशाह ने कहा—फिर अफ्रीका जीतूँगा।
तत्त्ववेत्ता ने पुनः पूछा—फिर क्या करोगे ?
बादशाहा ने कहा—फिर आराम करूँगा।

तत्त्ववेत्ता ने कहा—तो, फिर अभी से आराम में क्यों नहीं रहते हो ? क्या युद्धों के बाद ही आपको आराम मिल सकेगा ? क्या अभी आपको खाने-पीने, रहने और पहनने को कुछ कमी है ?

ये ही प्रश्न आज मुझे आपसे पूछने हैं। जो आप अमेरिका और युरोप की मुसाफिरी कर रहे हैं उनसे मुझे एक ही प्रश्न पूछना है कि क्या आपको अभी खाने-पीने, रहनें या पहिनने की कुछ कमी है ? सच बात तो यह है कि आज मनुष्य को किसी तरह की मर्यादा नहीं है। मर्यादा न होने के कारण ही यह सारी दौड़-धूप हो रही है। जिसमें न आराम है और न सन्तोष ही। मनुष्य के स्वभाव को ध्यान में रख कर ही शास्त्रकारों ने छठे व्रत की रचना की है। जिससे मनुष्य मिथ्या दौड़-धूप से बचे और शान्ति की साँस ले।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—"ऊर्ध्वाधस्तिर्यग-व्यतिक्रम-क्षेत्र-वृद्धि-स्मृत्यंतर्धानानि।" ऊँची, नीची और तिर्यग् दिशाओं का उल्लंघन करना, एक दिशा की मर्यादा कम करके दूसरी दिशा में वृद्धि करना, मर्यादा भूल जाना अथवा सन्देह होने पर भी मर्यादा से आगे जाना ये इस व्रत के पाँच अतिचार हैं।

इस व्रत के आराधक को इन अतिचारों से दूर रहना चाहिये। यह व्रत मनुष्य का जीवन संतोषमय और शान्तिमय बनाता है। अगर आप इसकी विशेषता पर विचार करेंगे और

अपने जीवन में उतारेंगे, तो व्यर्थ की दौड़-धूप से रुक कर आप अपना जीवन शांतिमय बना सकेंगे।

❀ ❀ ❀

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जाति वालों को अपना शरण मानता है और समझता है कि—'ये मेरे हैं' और 'मैं उनका हूँ'। परन्तु इनमें से कोई भी आपत्तिकाल में त्राण तथा शरण नहीं दे सकता।

जन्म का दुःख है, जरा (बुढ़ापा) का दुःख है, रोग और मरण का दुःख है। अहो! संसार दुःखरूप ही है। यही करण है कि यहाँ प्रत्येक प्राणी जब देखो, तब क्लेश ही पाता रहता है।

स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन सब जीते जी के ही साथी हैं, मरने पर कोई साथ नहीं आता।

जिस तरह सिंह हिरण को पकड़कर ले जाता है, उसी तरह अंत समय मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी उसके दुःख में भागीदार नहीं होते-परलोक में उसके साथ नहीं जाते।

संसार में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दुःखी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता।

७

उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत

जैसे दियासलाई घिसने से तेज प्रकट होता है, वैसे ही भोगोपभोग की इच्छाओं का निरोध करने से जीवन में तेज प्रकट होता है। सातवें व्रत की योजना इसीलिये की गई है।

उत्तराध्ययन सूत्र के तेरहवें अध्ययन में भगवान् महावीर फरमाते हैं कि :—

> बालाभिरामेसु दुहावहेसु न तं सुहं कामगुणेसु राया।
> विरत्तकामण तवोधणाणं जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं॥

काम-भोग से जो निवृत्त हो चुके हैं, तप ही जिनका धन है, शील गुण में ही जो रात-दिन मग्न रहते हैं, ऐसे साधु-पुरुषों को जो सुख है, वह सुख अज्ञानी जिसमें रत रहते हैं, दुःख जिसका परिणाम है, ऐसे कामभोगों में नहीं है। अतः सच्चा सुख प्राप्त करने के लिये भोगोपभोग की इच्छाओं पर नियन्त्रण करना चाहिये।

थियोडोर पारकर नामक एक अंग्रेज विद्वान् कहता है कि —
A life merely of pleasure or chiefly of pleasure is always a poor and worthless life, not worthy the living, always unsatisfactory in its course,

always miserable in its end. भोगी या विलासी जीवन पामर जीवन है, जिसका कोई मूल्य नहीं। ऐसा जीवन जीने योग्य नहीं है। विलासी मनुष्य को हमेशा असन्तोष रहा करता है, जो अन्त में दुःख में परिणत होता है।

दूसरा एक लेखक लिखता है कि—A man of pleasure is a man of pain. विलासी मनुष्य दुःख का शिकार वनता है। भोगवृत्ति जब प्रवल वनती है, तव सभी सद्गुणों का नाश हो जाता है। इसी वात को अंग्रेजी में इस तरह कहा गया है—pleasure's coach is a virtue's grave. भोग का आसन सद्गुणों की कब्र वन जाता है।

कई भोग तो मनुष्य को न मिलें, तव तक ही आकर्षक लगते हैं। कहा है कि—Most pleasures like flowers. when gathered die. फूल को तोड़ लेने पर, उसकी पंखुड़ियाँ विखेर देने पर उसका सौंदर्य मर जाता है। वैसे ही भोग भी अप्राप्त दशा में सुन्दर लगते हैं, प्राप्त होने के वाद उनमें रस नहीं रहता है।

उत्तराध्ययन के १४ वें अध्ययन में कहा है कि—खणमित्त सुक्खा, वहुकाल-दुक्खा अर्थात् भोगों से क्षणमात्र का ही सुख प्राप्त होता है, जब कि उसके प्रायश्चित्त रूप में लम्वे समय तक दुःख भोगना पड़ता है। अतः ऐसे क्षणिक सुख देने वाले भोगों को त्याग देना ही श्रेयस्कर है।

हरवर्ट के शब्दों में कहें तो—Fly the pleasure that bites to morrow. भंवरा काटता है, यह हम जानते हैं। अतः उसके पास आते ही हम उसे उड़ा देते हैं। इसी तरह जो भोग

कल हमें काटने वाले हैं, उन्हें पास आने से पहले ही भगा देने में बुद्धिमत्ता रही हुई है।

भोगों के सुखों की क्षणिकता और परिणाम में आने वाले दीर्घकालीन दुःखों को देख कर ही शास्त्रकारों ने सातवें व्रत में उपभोग-परिभोग का परिमाण कर लेने का फरमाया है।

इस व्रत में उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा करनी पड़ती है। उपभोग यानी एक बार भोगी जाय ऐसी वस्तु-भोजन, पेय आदि पदार्थ। परिभोग यानी बार-बार भोगी जा सके ऐसी वस्तु-वस्त्र, जेवर आदि पदार्थ। इन दोनों तरह के पदार्थों का परिमाण करना उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है।

इस व्रत के दो प्रकार हैं—एक भोजन सम्बन्धी और दूसरा कर्म सम्बन्धी। उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा बाँध लेना भोजन सम्बन्धी उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत कहा जाता है, और उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की प्राप्ति के लिये जो उद्योग-धन्धे करने पड़े, उनका प्रमाण और प्रकार निश्चित करना कर्म सम्बन्धी उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है।

इस व्रत में उपभोग-परिभोग की २६ वस्तुओं की मर्यादा करने का बताया गया है। जो कि इस प्रकार है—

(१) शरीर और हाथ पोंछने के रूमाल आदि की मर्यादा, (२) दातुन की, (३) खाने और उपयोग में लेने वाले फलों की, (४) शरीर पर मर्दन करने वाली तैलादि वस्तुओं की, (५) पीठी आदि शरीर पर चुपड़ने वाली वस्तुओं की, (६) नहाने के पानी की, (७) वस्त्र की, (८) चन्दन आदि विलेपन की, (९) फूल की, (१०) गहनों की, (११) धूप की, (१२) पेयों की, (१३) पकवानों की,

(१४) चावल आदि धान्य की, (१५) कठोल तथा दाल आदि की, (१६) घी, मक्खन, दूध, दही, गुड़, शक्कर आदि विगयों की, (१७) कच्चे शाक-भाजी की, (१८) मधुर फल यानी बेला के फूल, तरबूज, काशीफल, केला, द्राक्ष आदि की, (१९) खाने की वस्तुओं को, (२०) पानी की, (२१) मुखवास-सुपारी, लौंग आदि की, (२२) सवारी की, वाहन की, (२३) जूते की, (२४) सोने-बैठने के साधन की, (२५) सचित्त वस्तु की, (२६) खाने के पदार्थ मात्र की मर्यादा। इसके सिवाय देश काल के अनुसार दूसरी जो जो वस्तुएं उपभोग-परिभोग में आती हों, उनकी मर्यादा भी इस व्रत के आराधक को करनी चाहिये।

मर्यादा बाँधने में भी विवेक की आवश्यकता है। जिसमें अधिक हिंसा और अधर्म होने की सम्भावना हो, उन खान-पान, गहना-कपड़ा आदि पदार्थों का त्याग कर कम हिंसा और अधर्म वाली वस्तुओं का परिमाण बाँधना चाहिये।

खान-पान की वस्तुओं की मर्यादा बाँधने के साथ साथ दिन में उपभोग करने के प्रमाण की भी मर्यादा बाँधनी चाहिये। खान-पान के प्रमाण की मर्यादा नहीं हो, तो मनुष्य अधिक खा बैठता है। पेट के परिमाण में नहीं, स्वादेन्द्रिय चाहे उस परिमाण में आज मनुष्य खाता हुआ दिखाई देता है। अतः स्वादेन्द्रिय पर काबू पाने के लिये और योग्य प्रमाण में खाना खाने के लिये खान-पान की वस्तुओं का दैनिक उपयोग करने का प्रमाण बाँध लेने की भी आवश्यकता है।

रोम के एक सीज़र बादशाह के लिये कहा जाता है कि उसे स्वादिष्ट वस्तुएं खाने का बहुत शौक था। वह प्रति दिन नये-नये व्यंजन कराता और इनमें से थोड़ा-थोड़ा खाता था। पेट भर जाने

पर यदि कोई व्यंजन खाने बाकी रह जाते, तो वह उल्टी होने का चूर्ण फाँकता और यों पेट खाली होने पर बचे हुए व्यंजन खाता था। स्वादलोलुपता ने आखिरकार उसे रोगग्रस्त बना दिया और अन्त में वह अकाल में ही मृत्यु की शरण हुआ।

आज उल्टी करके खाने वाले सीज़र जैसे मनुष्य भले ही दिखाई न देते हों, परन्तु उल्टी या टट्टी हो, अथवा पेट दुखने आवे या अजीर्ण और गैस हो, वहाँ तक स्वाद के खातिर खाने वाले सीज़र के छोटे भाई तो जरूर मिल जायेंगे। शरीर नीरोगी रहे, स्वादेन्द्रिय पर संयम रहे और मन वश में रहे इसके लिये खान-पान की मर्यादा के साथ उसका माप भी निश्चत करने की आवश्यकता है। इस व्रत में उपभोग—परिभोग का परिमाण बाँधने के लिये सूची दी गई है। उसका अर्थ कोई यह नहीं करे कि इस सूची में कई वस्तुएँ ऐसी हैं कि जिनके बिना भी जीवन सरलता से चल सकता है। अतः इन वस्तुओं में से भी आवश्यक हो वही वस्तुएँ उपभोग-परिभोग के लिये खुली रखनी चाहिये। अनावश्यक वस्तुओं का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

'जहाँ भोग है वहाँ रोग है,' यह कथन बिलकुल यथार्थ है। आज खान-पान की मर्यादा के अभाव में कई मनुष्य पक्षी-पक्षियों से भी अधिक स्वच्छंदी बने हुए दिखाई देते हैं। पक्षी तो रात में खाते तक नहीं हैं, जब कि मनुष्य के लिये ऐसा कोई नियम नहीं है। मनुष्य तो रात में भी दिन की तरह इच्छानुसार खाता है!

पशु-पक्षियों का खान-पान प्राकृतिक होता है, जब कि मनुष्यों ने अपना जीवन अनावश्यक और अप्राकृतिक बना दिया है। चाय, बीड़ी, तमाखू, गांजा, अफीम जैसे विषैले पदार्थ, जिन्हें

पशु सूंघते तक नहीं हैं, मानव उन्हीं के गुलाम बनते जा रहे हैं। इस तरह की खान-पान की अमर्यादा से कई तरह के नये-नये रोग भी बढ़ते जा रहे हैं।

ज्ञाता सूत्र में बताया गया है कि कई मुसाफिर अनजान जंगल में चले गये, जहाँ उन्होंने दिखने में सुन्दर कई अनजान फल खा लिये। फलतः वे वहाँ खाते ही मर गये। जिन्हें ऐसे अनजान फल नहीं खाने की मर्यादा थी, उन्होंने नहीं खाये, इससे वे बच गये।

यह उदाहरण हमें खान-पान की वस्तुओं में मर्यादा रखने की आवश्यकता बताता है। आज के विलासी युग में तो मर्यादा की अतीव आवश्यकता है।

'भूख से कम खाना' शास्त्रकारों ने उसे ऊणोदारी-तप कहा है। यह तप करने से शरीर भी नीरोगी रहता है और बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य भी दिन प्रति दिन सुधरता जाता है। आचारांग सूत्र में प्रभु महावीर के जीवन-प्रसंग में फरमाया है कि भगवान् का शरीर नीरोगी-था, फिर भी वे ऊणोदरी-तप करते थे।

उणोदरी-तप शरीर को नीरोगी रखने के लिये कई तरह से उपयोगी है। उसकी महत्ता आज भुला दी गई है, जिसे महत्व देने की आज अतीव आवश्यकता है।

उदाहरण के रूप में आभूषणों की जीवन के लिये कोई आवश्यकता नहीं है। पुरुषों को आभूषणों की आवश्यकता नहीं है, तो स्त्रियों को क्यों हो? वास्तव में देखा जाय तो स्त्रियों को गुलाम बनाये रखने के लिये पुरुषों ने यह उपाय खोज रखा है। आभूषणों से सज्जित नारी के अंग अंग बन्धे रहते हैं। नाक और

कान में आभूषण पहनने की स्वाभाविक अनुकूलता नहीं है। अतः उसमें कृत्रिम छेद करने पड़ते हैं। स्त्रियों के नाक, कान, हाथ, पैर, अंगुलियाँ, गला, कमर आदि अंग आभूषणरूपी बेड़ियों से सदा जकड़े रहते हैं। स्त्रियों की इससे अधिक पामर दशा और क्या हो सकती है ?

बहिनों को ये बन्धन फेंक देने चाहिये। बहिनें यदि आभूषणों का मोह छोड़ देंगी, तो अपने पति को अनेक पापों से बचा सकेंगी। सौभाग्यचिन्ह के रूप में बहिनें एक काष्ठ की चूड़ी और कंकु की टीकी रख सकती हैं, इनके अलावा सभी आभूषणों का त्याग करने में ही बहिनों का गौरव है। शास्त्रकारों ने कहा है कि 'आभरणाः भाराः' सभी आभूषण भाररूप हैं।

बहिनों के सौन्दर्य में सोना, चाँदी और हीरा-मोती के आभूषण वृद्धि नहीं कर सकते हैं, शील, सेवा, सदाचार और सादगी द्वारा ही वे चमक उठेंगी।

न्यायमूर्ति रामशास्त्री का नाम आपने सुना होगा, वे बड़ा सादा जीवन व्यतीत करते थे। उनके जीवन का एक प्रसंग है।

राजा माधवराव पेशवा के वे गुरु थे। माधवराव को उन पर अत्यंत भक्ति और श्रद्धा थी। उन्होंने रामशास्त्री को प्रधान न्यायाधीश बनाया।

एक बार नये साल के दिन रामशास्त्री की धर्मपत्नी रानी से मिलने राजमहलों में गई। उसके शरीर पर सादे वस्त्रों के सिवाय और कुछ नहीं था। रानी को उसका इतना सादापन अच्छा न लगा। उसने गुरुपत्नी का शरीर सोने-चाँदी के आभूषणों से और कीमती वस्त्रों से अलंकृत कर दिया। जाते समय सोने की की पालखी में बैठाकर उसे विदाई दी।

पालखी वाले रामशास्त्री के घर पर आकर खड़े हो गये। किवाड़ बन्द थे अतः उन्होंने खटखटाया। रामशास्त्री किवाड़ बन्द कर मनुस्मृति पढ़ रहे थे। उन्होंने खिड़की में से अपनी पत्नी को सोने की पालखी में बैठी हुई देख कर पूछा—कौन है ? किसका काम है ? पालखी वाले ने उत्तर दिया, पर शास्त्रीजी ने कहा—यह बात झूठी है इतने आभूषण पहनने वाली और सोने की पालखी में बैठने वाली मेरी पत्नी हो ही नहीं सकती है ! यह कोई दूसरी बहिन होगी। कहीं तुम घर भूल गये लगते हो।

शास्त्रीजी की पत्नी अपने पति के कहने का भावार्थ समझ गई। उसने पालखी वालों को पालखी वापिस राजमहल में ले चलने को कहा। राजमहल में जाकर उसने ये सब आभूषण और वस्त्र उतार कर अपने पुराने वस्त्र धारण किये और घर आकर कहा—'स्वामीनाथ ! अब द्वार खोलेंगे न' ? रामशास्त्री ने द्वार खोलते हुए कहा—अब तुम मेरी पत्नी हो। सोना चाँदी के गहनों से शरीर का शृङ्गार करना तो अज्ञानी लोगों का काम है। हमें तो सादगी, सदाचार, सेवा और सुनीति के ही गहने पहनने चाहिये।

शास्त्रीजी के ये शब्द बहिनों को याद रखने चाहिये। देवराणी-जेठानी के बीच में झगड़ा कराने वाला और गृह क्लेश बढ़ाने वाला आभूषण का प्रश्न उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत में बहिनों के लिये मुख्य रूप से विचारणीय है।

शरीर निभाने के लिये हवा, पानी, अनाज और वस्त्र की आवश्यकता होती है। इनमें से हवा और पानी तो सबको सहज सुलभ है। शेष रहे अनाज और वस्त्र, क्या इन दो पदार्थों के लिये ही सारी दुनिया दौड़-धूप कर रही है ? ऐसी बात नहीं है।

जमीन के एक छोटे से हिस्से में यदि मनुष्य चाहे तो अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये अनाज और वस्त्र के लिये रूई तैयार कर सकता है। यह जो. दौड़-धूप हो रही है, वह तो अमर्यादित उपभोग और परिभोग के लिये मची हुई है। वैज्ञानिक शोध दिन प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है, परन्तु उसके पीछे भी उपभोग-परिभोग की ही वृत्ति रही हुई है। अणुबम की शोध में भी इसी वृत्ति का पोषण हो रहा है।

एक आदमी दो मील पैदल चल कर जा सकता है। परन्तु बजाय इसके आज आदमी हजारों की मोटर रखते हैं और नौकर तथा पैट्रोल का खर्च बढ़ाते हैं। एक पैसे के बाँस के पंखे से हवा खाई जाती है। बाँस का पंखा तो हाथ से चलाया जा सकता है, जब कि बिजली के पंखे के लिये बिजली-घर (पावर-हाउस) खड़ा करना पड़ता है। यही बात देशी दीपक और बिजली के लैम्प में भी रही हुई है।

इस तरह उपभोग-परिभोग के लिये आज मानव अनेक तरह के आरम्भ-समारम्भ कर रहा है। उसमें कोई मर्यादा उसने नहीं रखी है। यही वजह है कि आज कई अनिष्ट उससे पैदा होते जा रहे हैं।

भोगासक्त पुरुष को नरक के दुःख सहने पड़ते हैं, जबकि भोगों के त्यागी को स्वर्ग के सुख प्राप्त होते हैं। गुलाब के फूल की सुगन्ध लेने वाले को जैसे काँटे की पीड़ा भी सहन करनी पड़ती है वैसे ही भोगासक्त मनुष्य को वेदना भी सहन करनी पड़ती ही है।

ज्ञातासूत्र में पुण्डरीक और कुण्डरीक दो राजकुमार भाइयों का वर्णन आता है। कुण्डरीक राज्य-भोगों का त्याग कर दीक्षा

अंगीकार करता है और पुण्डरीक राजगद्दी पर बैठता है। पुण्डरीक का मन राज-काज चलाते हुए वैराग्य-प्रधान था। वह श्रावक के बारह व्रतों का पालन करता था।

कुछ समय बाद मुनि कुण्डरीक राजा पुण्डरीक की राजधानी में आते हैं और वहाँ काफी लम्बे अर्से तक रहते हैं। इससे उनका मन भोगोपभोग की तरफ आकर्षित हो जाता है और एक दिन वे अपने भाई से राज्य की माँग भी कर बैठते हैं। पुण्डरीक अपने भाई को संयम में स्थिर रखने के लिये संयम से होने वाले लाभ और भोग से होने वाले नुकसान समझाता है। फिर भी मुनि कुण्डरीक का मन संयम में स्थिर नहीं हुआ। अन्त में कुण्डरीक को राज्य सौंप कर पुण्डरीक दीक्षा अंगीकार करता है। कुण्डरीक आसक्तिपूर्वक भोगों का उपभोग करता है। फलस्वरूप रोगों से ग्रसित हो तीन दिन में ही आयुष्य पूर्ण कर सातवीं नरक में उत्पन्न होता है। वहाँ वह तैंतीस सागरोपम की स्थिति प्राप्त करता है।

दूसरी तरफ पुण्डरीक मुनि शुद्ध भाव से संयम की आराधना करता है और वह भी तीन दिन में आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होता है और तैंतीस सागरोपम की स्थिति प्राप्त करता है।

एक को भोगोपभोग की आसक्ति से तैंतीस सागरोपम तक सातवीं नरक की तीव्र वेदना सहन करनी पड़ती है, जब कि दूसरे को भोगों के त्याग से तैंतीस सागरोपम तक अनुत्तर सुखों की प्राप्ति होती है। भोग और उसका त्याग दोनों के बीच में कितना अन्तर पड़ा हुआ है? भोगों से प्राप्त सुख क्षणिक होता है और

इससे होने वाला दुःख अनेक गुणा अधिक होता है। अतः भोगों की मर्यादा भी क्रमशः धीरे धीरे कम करते जाना चाहिये।

भोजन सम्बन्धी उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं—'सचित्त सम्बद्ध संमिश्राऽभिषव दुष्पक्वाहाराः।'

किसी भी वनस्पति आदि सचित्त वस्तु का आहार, सचित्त से लगी हुई अचित्त वस्तु का आहार, अधपकी वस्तु जो पूर्ण अचित्त न हुई हो उसका आहार, मादक द्रव्य अथवा जिसमें कम खाने का और अधिक फेंक देने का हो, वैसी वस्तु का आहार तथा अधकचरी वस्तु का आहार, ये पाँच भोजन सम्बन्धी अतिचार हैं। सातवें व्रत के आराधक को इन अतिचारों से मुक्त रहना चाहिये।

कर्म सम्बन्धी पन्द्रह अतिचार—उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत दो तरह का होता है, जैसा कि '**उपभोग-परिभोग-परिमाणवए दुविहे पन्नते तंजहा भोयणाओ य कम्मओ य।**' भोजन से और कर्म से यह व्रत दो प्रकार का है। भोजन के अतिचार ऊपर बताये जा चुके हैं, अब कर्म सम्बन्धी पन्द्रह अतिचार यहाँ बताये जा रहे हैं।

कर्म अर्थात् आजीविका के लिये किया जाने वाला व्यवसाय अथवा उपभोग-परिभोग के पदार्थों को प्राप्त करने के लिये किया जाने वाला उद्योग। इसके पन्द्रह अतिचार हैं।

लकड़ी जलाकर कोयले बनाने का व्यवसाय, जंगल खरीद कर उसकी लकड़ी काट कर बेचने का व्यवसाय, बैलगाड़ी आदि बेचने का धन्धा, मिट्टी, पत्थर, हीरा, माणिक आदि के लिये खान

खोदकर उन्हें बेचने का व्यवसाय, हाथी दाँत आदि का धन्धा, लाख बेचने का धन्धा, दारू आदि नशीली तथा अफीम, सोमल आदि जहरीली वस्तुओं का धन्धा, यन्त्रों तथा कारखानों द्वारा माल उत्पन्न करने का व्यवसाय, इन सब व्यापारों की गणना पन्द्रह कर्मदानों में की जाती है। ये और ऐसे ही अन्य महारम्भी व्यवसायों को त्याज्य समझना चाहिये।

जीवन की आवश्यकताएँ घटाने के साथ-साथ आवश्यकता की पूर्ति के लिये व्यापार भी अधिकाधिक अहिंसक होना चाहिए और उसमें सत्य, नीति और प्रमाणिकता का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए।

अनार्य व्यवसाय मानव समाज के लिये अहितकर हैं। शास्त्रकारों की दृष्टि मानव-समाज का श्रेय करने की और अहिंसा का पालन व्यापक रूप से कराने की रही है। इसीलिये उन्होंने अहितकर हिंसक व्यापारों का निषेध फरमाया है। आज की दुनिया में महारंभी, हिंसक और मानव समाज का अहित करने वाले धन्धे बढ़ गये हैं। ऐसे धन्धों में नफा भी विशेष रहता है। अतः श्रावक भी ये धन्धे अपनाने लग गए हैं। पैसे के खातिर श्रावकपना गुमाने में वे हिचकिचाते नहीं हैं।

आज सर्वत्र आर्थिक विषमता फैली हुई है। विश्व युद्ध और अनावृष्टि का भय रहा करता है। इसका मूल हिंसक और महारम्भी व्यापार ही है। उदाहरण के रूप में यन्त्रवाद को ही ले लीजिये, उसकी वजह से कोयला और लकड़ियों की काफी तादाद में आवश्यकता खड़ी हुई, जिसके लिये जंगल कटने लगे, जंगलों की कमी होने से वर्षा का अभाव रहने लगा और इस कारण कभी-कभी अनावृष्टि का भय रहा करता है। सरकार अब यह बात

समझ गई है और उसने नये करोड़ों वृक्ष वोने की शुरुग्रात भी कर दी है। परन्तु जव तक ये नये वोये गये वृक्ष वड़े न हों, तव तक ग्रनावृष्टि का भय तो बना रहेगा। यह सव ग्रनिष्ट यन्त्रवाद का है, फिर भी नित नये यन्त्र वढ़ते जा रहे हैं। नये वृक्ष वोये जा रहे हैं ग्रौर पुराने वृक्ष काटे जा रहे हैं। यन्त्रवाद का ग्रस्तित्व रहते यह परम्परा कैसे रुक सकेगी ?

पृथ्वी का पेट फाड़ना भी ग्रनर्थ धन्धा है। जमीन में से ही घासलेट, पैट्रोल ग्रादि निकाला जाता है। इस पैट्रोल के ग्राधार से ही युद्ध चलते हैं।

ये सभी ग्रनार्य धन्धे छोड़ने में ग्रौर ग्रल्प हिंसक-ग्रल्पारम्भी धन्धे ग्रपनाने में ही मानव-समाज का श्रेय रहा हुग्रा है।

खेती के धंधे में ग्राज पाप माना जाता है, जव कि ग्रनाज के धन्धे में उतना पाप नहीं माना जाता है। चमड़ा ग्रौर हड्डी का व्यवसाय ग्रपवित्र ग्रौर पापी माना जाता है, जव कि घी ग्रादि का व्यापार कम पाप वाला माना जाता है। यह मान्यता हमारी ऊपरी दृष्टिकोण पर ही ग्राधार रखती है।

इस सम्वन्ध में दीर्घ दृष्टि से विचार किया जाय तो स्थिति विल्कुल उल्टी दिखाई देगी। सभी यह जानते हैं कि मनुष्य लाभ के लिए ही, कुछ न कुछ कमाने के लिए ही धन्धा-रोजगार करते हैं। इस दृष्टि से ग्राप विचार करिये कि ग्रनाज या घी के व्यापारी की ग्रौर खेती करने वाले या चमड़ा, हड्डी के व्यापारी की भावना कैसी होगी ? ग्रनाज ग्रौर घी के व्यापारी को ग्रधिक नफा कव मिलेगा ? जिस साल दुष्काल पड़ता है, उस वर्ष ग्रनाज महँगा हो जाता है। दुष्काल में ग्रनाज ग्रौर घास नहीं होता है। पशु मरने लगते हैं ग्रौर घी का भाव वढ़ने लगता है ग्रौर यदि सुकाल

होता है, तो अनाज सस्ता हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में जिस व्यापारी के पास अनाज के कोठार या घी के भण्डार भरे पड़े हों। उसकी भावना कैसी होगी ? दुष्काल पड़े और भाव ऊपर चढ़े तो अच्छा हो। धनलोभी व्यापारी को इसके सिवाय और कैसी भावना हो सकती है ?

खेती, चमड़ा और हड्डी का व्यापार करने वाले की भावना कभी दुष्काल न पड़े ऐसी ही रहती है। सुकाल में पशु मरते नहीं हैं। इससे चमड़े के भाव में वृद्धि हो जाती है। सुकाल में अनाज अधिक होता है और किसान मालोमाल हो जाते हैं।

इससे आप समझ सकेंगे कि कौन-सा व्यापार अधिक पापी है और कौन-सा कम ? इसका आधार भावना पर ही रहा हुआ है।

एक समय एक अनाज का व्यापारी और चमड़े का व्यापारी दोनों साथ ही खरीद करने निकले। मार्ग में दोनों ने एक बुढिया के यहाँ रात गुजारी। बुड़िया ने अनाज के व्यापारी को घर के भीतर सुलाया और चमड़े के व्यापारी को बाहिर। दोनों व्यापारी खरीद करके जब वापिस आए तब भी उस बुढिया के यहाँ रात को ठहरे। इस बार बुड़िया ने चमड़े के व्यापारी को अन्दर सुलाया और अनाज के व्यापारी को बाहिर।

व्यापारियों ने इसका उस बुढ़िया से कारण पूछा। बुढ़िया ने कहा—भाइयो, जब तुम खरीद करने जाते थे, तब अनाज के व्यापारी की भावना ऊंची थी। वह सोचता था कि वर्षा के चिह्न नजर आवें और अनाज सस्ता हो तो अच्छा। उस समय चमड़े के व्यापारी की भावना कनिष्ठ थी ! वह सोचता था कि दुष्काल के चिह्न नजर आवें और चमडा सस्ता हो तो अच्छा। खरीद

करने पर दोनों की भावना बदल गई है। अनाज का व्यापारी सोचता है कि दुष्काल पड़े और अनाज का भाव बढ़े तो नफा हो। चमड़े का व्यापारी सोचता है कि सुकाल हो, तो चमड़े का भाव बढ़े और नफा मिले।

अतः जिस समय जिसकी भावना अच्छी थी, उसे अन्दर सुलाया था और जिसकी खराब थी उसे बाहिर।

सातवें व्रत की आराधना करने वाला पन्द्रह कर्मादान का व्यापार ही नहीं, परन्तु पन्द्रह कर्मादान से बनी हुई वस्तुओं का उपयोग भी नहीं करता है—नहीं कर सकता है। किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पहले वह सोचता है कि यह वस्तु अल्पारम्भी है या महारम्भी ? कम से कम अल्पारम्भी वस्तु सिवाय अन्य महारम्भी वस्तु वह काम में नहीं लेता है।

यदि इस सातवें भोगोपभोग परिमाण व्रत का पालन न किया जा सके, तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन भी नहीं किया जा सकता है। क्योंकि अमर्यादित भोगोपभोग की उपलब्धि के लिये हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है। असत्य, चोरी, असंयम आदि अनिष्टों का जन्म भोगोपभोगों में से ही होता है। अमर्यादित भोगोपभोग अमर्यादित परिग्रह की वृत्ति का भी पोषण करता है। इससे इस व्रत की आराधना के लिये भोगों की मर्यादा करना अत्यावश्यक है। ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि सातवें व्रत का पालन करने वाला ही अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का आराधक बन सकता है।

८

अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत

घड़ी, चाहे जिस कम्पनी की क्यों न हो, मशीन भी अच्छी हो, परन्तु उसमें दो काँटे न हों तो वह विलकुल वेकार होती है। विना काँटों की घड़ियाल वन्द हो या चालू, पर उसका कोई मूल्य नहीं है। इसी तरह मानव के जीवन में भी यम और नियम रूपी दो काँटे न हों, तो वह जीवित और मृत दोनों अवस्था में समान ही है। यम, नियम या संयम विना मनुष्य की कोई कीमत नहीं है। गृहस्थाश्रम में रह कर यथायोग्य संयममय जीवन व्यतीत करने के लिये भगवान् महावीर ने वारह व्रत फरमाये हैं। जो इन व्रतों का आराधन नहीं करते हैं उनका जीवन विना काँटों की घड़ी जैसा है।

आठवाँ व्रत अनर्थदण्डत्याग का है। अपने जीवन निर्वाह के लिये होने वाले सावद्य व्यापार के सिवाय अन्य सभी अधर्म व्यापारों से निवृत्ति लेना, कोई भी पाप-प्रवृत्ति नहीं करना. अनर्थदण्ड-विरमण व्रत है। निरर्थक वस्तु का संग्रह करना भी अनर्थदण्ड है। इस व्रत में चार तरह के अनर्थदण्ड वताये गये हैं–

'चउत्थे अणत्थदण्डे पन्नत्ते तंजहा अवज्झाणाचरियं पमायाचरियं, हिंसप्पयाणं, पावकम्मोवएसं।'

अवज्भाणाचरियं—अर्थात् अपध्यान अनर्थदंड है । ध्यान के चार प्रकार हैं –आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान । इनमें पहले के दो अशुभ ध्यान हैं और दूसरे दो शुभ ध्यान हैं। अशुभ ध्यान ही अपध्यान है। अतः आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान करना अनर्थदण्ड है।

अप्रिय वस्तु, अप्रिय व्यक्ति या मन को अनिच्छनीय अरुचिकर प्रसंग उपस्थित हो, तब ऐसे अनिष्ट संयोगों से व्याकुल होना और इनसे दूर होने का ध्यान करना 'अनिष्ट संयोग आर्त्त ध्यान' है। सम्पत्ति, संतति या कीर्ति जैसी इच्छित वस्तु अपने से दूर हो, तब उसके लिये अभिलाषा रखना 'इष्ट वियोग आर्त्तध्यान' है। शारीरिक या मानसिक पीड़ा दूर करने की व्याकुलता 'रोगचिन्ता आर्त्तध्यान' है। 'अप्राप्य भोगों को प्राप्त करने की लालच से तीव्र संकल्प करना 'निदान आर्त्तध्यान' है। ये चार प्रकार के आर्त्तध्यान अनर्थदंड हैं।

किसी भी प्रिय व्यक्ति या वस्तु के लिये शोक करना' रोना, विलाप करना आदि भी आर्त्तध्यान है। हमारी समाज में रोने-धोने की प्रथा ने भी अनिवार्य रूप धारण कर लिया है। इस रूढ़ि का समाज में इतना अधिक महत्त्व बढ़ गया है कि कोई शान्तिप्रिय व्यक्ति यदि इसका पालन न करे और इसके बदले प्रभु-स्मरण या माला फेरने का कार्य-क्रम रखे, तो समाज में उसकी निन्दा की जायगी। समाज में उसे वहिष्कृत-सा समझा जायगा। जैसे विवाहादि को शोभा बढ़ाने के लिये किराये के बाजे वाले रेडियो, फिल्म और संगीत के आयोजन किये जाते हैं, वैसे ही मृत्यु प्रसंग पर भी अपनी श्रीमन्ताई दिखाने के लिये श्मशान-यात्रा में काफी बड़ी तादाद में लोगों को बुलाया जाता है और

रोने-धोने के लिये कई बार किराये की औरतें भी रखी जाती हैं। ऐसा आर्त्तध्यान बढ़ाने में शोभा और प्रतिष्ठा समझी जाती है। यह अनर्थदण्ड का व्यापक स्वरूप है।

कई अल्पज्ञ भाई-बहिन यह समझते हैं कि रोने में क्या पाप है? उसमें कहाँ छकाय जीवों का आरम्भ है? यह बात जरा विवेकपूर्वक समझने की है। आर्त्तध्यान दुर्गति में ले जाता है। उदाहरण के रूप में शास्त्रकारों ने हमारे समक्ष श्रीदेवी का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

चक्रवर्ती की रानी श्रीदेवी चक्रवर्ती के वियोग से केवल छह मास तक विलाप करती है। फलस्वरूप उसे इस आर्त्तध्यान के सेवन से छठी नरक में जाना पड़ता है। शास्त्रकारों का यह स्पष्ट फरमान है। उसने अपने जीवन में राँधना, दलना, खाँडना, धोना आदि का कुछ भी आरम्भ नहीं किया, फिर भी छह मास के आर्त्तध्यान से ही उसे तमःप्रभा नाम की छठी नरक में जाना पड़ा और वहाँ के अनन्त दुःखों को भोगना पड़ा। यह आर्त्त-ध्यान का ही फल है।

केवल छह मास तक आर्त्तध्यान करने से ही श्रीदेवी को छठी नरक में जाना पड़ा तो जो व्यक्ति अपने सम्बन्धियों के वियोग में वर्षों तक आर्त्तध्यान करते रहते हैं, उनकी क्या स्थित होगी? यह उन्हें स्वतः समझ लेना चाहिये।

ऐसा आर्त्तध्यान अनर्थदण्ड है। आठवें व्रत के आराधन से ऐसे आर्त्तध्यान का सेवन नहीं किया जा सकता है।

हिंसा सम्बन्धी, असत्य सम्बन्धी, चोरी सम्बन्धी, विषय-

वासना सम्बन्धी विचार करना रौद्रध्यान है। जिसका मन क्रूर होता है वह रुद्र कहलाता है। ऐसी रुद्र आत्मा का ध्यान रौद्र-ध्यान कहा जाता है। क्रोध, द्वेष, ईर्षा, घमंड आदि मनोविकारों का चिन्तन करना भी रौद्रध्यान है। रौद्रध्यानी दिन प्रतिदिन रुद्र बनता जाता है। उसके मुंह का सौम्य भाव नष्ट हो जाता है और उसका चेहरा भयंकर बनता जाता है। वह दूसरों का अप्रिय बनता जाता है।

जैन-साहित्य में तन्दुल मच्छ की कथा आती है। वह चावल जैसा छोटा-सा मच्छ होने से तन्दुल मच्छ कहलाता था। एक दिन वह किसी बड़े मगर मच्छ के भांपड़ पर बैठा हुआ था। मगर मच्छ का मुंह खुला हुआ था, जिसमें पानी के हिलोरों के साथ कई मछलियाँ आ जा रही थीं। तन्दुल मच्छ विचार करने लगा कि यह मगर मच्छ कितना मूर्ख है? इतने बड़े बड़े मत्स्य इसके मुंह में जा रहे हैं फिर भी यह खाता नहीं है। इसके स्थान पर अगर मैं होऊँ, तो सबको खा जाऊँ? किसी को भी जीवित न जाने दूँ।

इस प्रकार रौद्रध्यान करते हुए अन्तर्मुहूर्त्त के अल्प समय में ही उसने सातवीं नरक का तेंतीस सागरोपम का आयुष्य बाँध लिया और नारकी के रूप में वहाँ उत्पन्न हुआ। यह रौद्र-ध्यान का परिणाम है।

तन्दुल मच्छ ने स्थूल हिंसा आदि का सेवन नहीं किया था, केवल रौद्रध्यान के कारण ही उसे सातवीं नरक में जाना पड़ा।

ये दोनों ध्यान दुर्ध्यान हैं। इन ध्यानों से जीव दुर्गति पाता है। कोई प्रश्न कर सकता है कि क्या विचार करने मात्र से

ही दुर्गति हो जायगी ? यों देखा जाय तो विचार ही सब पापों के स्रोत हैं। विचारों में मलिनता आये बिना कोई भी पाप-कर्म नहीं हो सकता है। संस्कृत में कहा है कि—

'मनः एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।' अर्थात् मन ही बंध और मोक्ष का कारण है।

एक बार राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के दर्शन करने जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को ध्यानस्थ खड़े हुए देखा। राजा श्रेणिक के साथ उसकी सेना भी थी।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को देख कर सेना के दो आदमी बातें करने लगे। एक ने कहा—धन्य है इस राजर्षि को जिन्होंने राज-पाट छोड़ कर यह त्यागी-जीवन स्वीकार किया है। कैसे आत्म-ध्यान में ये लीन हैं! यह सुनकर दूसरा बोल उठा—'अब रहने दे इनके त्याग की तारीफ करना, अपने छोटे से बालक के सिर पर राज्य का भार डालकर ये निकल आये हैं। अभी उस पर एक दुश्मन राजा चढ़ाई कर बैठा है, जो उसका राज्य छीन कर उसे भिखारी बना देगा।' ये शब्द जैसे ही मुनि ने सुने वैसे ही उनकी ध्यानावस्था भी बदल गई।

श्रेणिक भगवान् को नमस्कार कर के पूछता है कि भगवन् प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अभी मर जाय तो कहाँ जाय ?

भगवन् ने कहा—सातवीं नरक में।

राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। ऐसा त्यागी और तपस्वी मुनि सातवीं नरक में यह कैसे हो सकता है ?

इतने में राजा ने देवताओं को समवसरण में जाते हुए देखा। उसने भगवान् से पूछा—प्रभो ! ये देव कहाँ जा रहे हैं ?

भगवान् ने कहा—राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है। अतः उसका उत्सव मनाने के लिये देव जा रहे हैं।

यह बात सुन कर श्रेणिक राजा के आश्चर्य का पार न रहा। राजा की शङ्का का निवारण करते हुए भगवान् ने फरमाया—'राजन्! जब तुम अपनी सेना सहित इधर आ रहे थे, तब तुम्हारे दो सैनिक आपस में बात कर रहे थे कि 'प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के बाल-पुत्र पर दुश्मन चढ़ आया है। अतः उसका राज्य छीन लिया जायगा।' ये शब्द मुनि ने सुने और वे ध्यान से विचलित हो गये।

मुनि को अपने बाल-पुत्र का विचार हो आया कि मुझे जाकर अपने बाल-पुत्र की रक्षा करनी चाहिये। शत्रु के साथ युद्ध कर उन्हें परास्त करूँ और अपने पुत्र को सुरक्षित बनाऊँ। ऐसे हिंसक विचार उनके दिमाग में चक्कर काट रहे थे। तब मैंने कहा था कि 'अभी मर जाय तो वह सातवीं नरक में जायगा। इसके बाद उन्हें शीघ्र ही अपनी स्थिति का भान हुआ। जिससे उन्हें अपने इन हिंसक विचारों के लिये बड़ा पश्चात्ताप हुआ। पश्चात्ताप की आग में दुर्ध्यान जल गया और वे धर्मध्यान-शुक्लध्यान पर आरूढ़ हो गये। शुक्लध्यान की श्रेणी पर चढ़ते-चढ़ते उन्हें केवलज्ञान हो गया है।'

यह स्पष्टीकरण सुन कर राजा श्रेणिक के मन का समाधान हुआ। मन मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण कैसे बनता है? यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। इसीलिये व्रत में दुर्ध्यान से बचने को कहा गया है।

यदि मनुष्य कुछ विवेकपूर्वक विचार करे तो अपध्यान से बच सकता है। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि प्रसंगों में तथा

क्रोध, द्वेष आदि उत्पन्न हो, तब निमित्त के बजाय उपादान का विचार किया जाय तो मन शान्त रह सकता है। निमित्त तो केवल निमित्त मात्र ही है। सब कुछ उपादान की वजह से ही बना करता है। अतः मनुष्य को अपने उपादन का विचार करना चाहिये। उसे दुर्ध्यान स बच कर सुध्यान में स्थिर होना चाहिये।

अशुभ विचारों का सेवन और असुरों का सहवास दोनों समान हैं। अशुभ विचार मानव-जीवन को नीचे ले जाता है। अपने जीवन का विघातक शत्रु अशुभ विचारों जैसा दूसरा कोई नहीं है। एक तत्त्वज्ञानी ने कहा है कि—

Bad thoughts are worse enemies than lions and tigers सिंह और बाघ से भी अशुभ-विचार अधिक भयङ्कर है।

हर एक अशुभ विचार अपने जीवन में कुछ न कुछ अशुभ संस्कार छोड़ जाते हैं। एक दूसरे विद्वान ने कहा है कि—An arrow may fly through the air and leave no trace, but an ill thought leaves trail like a serpant तीर हवा से गुजरता है, पर उसका चिन्ह हवा में रहता नहीं है, जब कि खराब विचारों का चिन्ह तो सर्प की लीक की तरह रह ही जाता है। अर्थात् अशुभ विचार जीवन में कुछ न कुछ खराबी बढ़ाते ही जाते हैं। इसलिये अपध्यान को अनर्थदंड समझ कर उसका त्याग करना चाहिये।

शुभ विचारों का सेवन करने से जीवन ऊर्ध्वगामी बनता है। कहा भी है कि Garner up noble thoughts in your mind for noble thoughts make noble lives अपने मन में उच्च विचारों का संग्रह करो, क्योंकि उच्च विचार जीवन को उन्नत बनाते हैं।

'पमायाचरियं' दूसरा अनर्थदण्ड है। प्रमादयुक्त आचरण करना 'पमायाचरियं' है। प्रमाद या, आलस्य भयंकर पाप है। शास्त्रकारों ने आलस्य के पाप को हिंसा के समान माना है। उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन में भगवान् महावीर ने कई वार फरमाया है कि 'समयं गोयम! मा पमायए'—हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

प्रमाद पतन की निशानी है। अंग्रेजी में एक कहावत है कि An idle brain is the devil's workshop आलसी दिमाग शैतान का कारखाना है। दूसरी तरह से कहें तो, Idleness is the sepulchral of virtue आलस्य सद्गुणों की कब्र है। पानी के छोटे खड्डे में जैसे कीड़े खदबदाते हैं वैसे ही आलसी दिमाग में भी विकारों के कीड़े खदबदाते हैं। अतः आलस्य भी एक अनर्थदण्ड है।

शास्त्रकारों ने प्रमाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

मद विषय कसाया, निद्दा विकहा य पंचमा भणिया।
ए ए पंच पमाया, जीवा पाडंति संसारे।

जाति-मद आदि आठ मद, शब्द-रूपादि पाँच विषय, क्रोधादि चार कषाय, निद्रा और विकथा पांच प्रकार के प्रमाद हैं।

अनर्थदण्ड से निवृत्त होने वाले को इन प्रमादों से बचना चाहिये। इस व्रत के आराधक में ऊँच-नीच या जातिभेद नहीं होता, धन का मद नहीं होता, विद्वत्ता या तप-त्याग का अभिमान या सत्ता का घमंड भी नहीं होता है। उसमें शब्द, रूप, रसादि

ी लोलुपता नहीं होती। क्रोधादि कषायों से वह मुक्त होता है।
दिन में वह निद्रा नहीं लेता है और सवेरे जल्दी उठ जाता है।
वह किसी की विकथा अपने मुँह से करता है और न अपने
कानों से सुनता ही है।

हिंसप्पयाणे—यह तीसरा अनर्थदण्ड है। जिसके द्वारा हिंसा
हो सकती है, ऐसे अस्त्र-शस्त्र या विष आदि साधन किसी को देना
या किसी हिंसक कृत्य में सहायक होना 'हिंसप्पयाणे' नाम का
अनर्थदण्ड है।

पाकम्मोवएसे—यह अनर्थदण्ड का चौथा प्रकार है।
'पावकम्मोवएसे' अर्थात् पापकर्म का उपदेश देना। जिस उपदेश
से पापकर्म में प्रवृत्ति होती हो, वह उपदेश अनर्थदण्ड है।
पापकर्म में सलाह या स्वीकृति देना भी इसमें आ जाता है।
अपने में रही हुई कुटेवों का दूसरों को भी आदी बनाना, जैसे
कि किसी को बीड़ी पीने की आदत है, वह दूसरों को भी
आग्रह करके बीड़ी पीने की आदत डाले तो यह भी पापकर्म
उपदेश ही है। यदि मनुष्य अपनी कुटेव नहीं छोड़ सकता
हो, तो उसे कम से कम उस व्यसन का प्रचार तो नहीं
करना चाहिये। अपने में जो व्यसन हों, उन्हें कुटेव के रूप में
समझना चाहिये और दूसरों को उनका अनुकरण नहीं करने की
सलाह देना चाहिये।

इस व्रत के आराधक को इन चार तरह के अनर्थदण्ड से
बचकर रहना चाहिये।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—'कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्या-
समीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि।'

कंदर्प कौत्कुच्य—विकार वर्द्धक शब्दों का सुनना या बोलना कन्दर्प है। नाटक तथा सिनेमा देखने वाले इस अतिचार से कैसे बच सकते हैं ? विकार-वर्द्धक और विलासवर्द्धक चेष्टा करना या देखना कौत्कुच्य है। ऐसे दृश्यों वाली फिल्में भी इस व्रतधारियों से देखी नहीं जा सकती। सुशील स्त्री-पुरुष सिनेमा पाँव भी नहीं रख सकते हैं। कुलीन मनुष्य लम्बा मार्ग पसन्द करेंगे, पर शराब या मांस की दुकानों के पास होकर या असदाचारी स्त्रियों के निवासस्थानों के निकट होकर गुजरना पसन्द नहीं करते। इसी तरह चित्रगृह का मार्ग भी उनके लिये त्याज्य होना चाहिये।

मौखर्य—सम्बन्ध रहित अथवा अनावश्यक बहुत बोलते रहना 'मुहरिये' या मौखर्य' नामक तीसरा अतिचार है। वचनपात वीर्यपात से भी अधिक नुकसानकारक माना जाता है। बिना विचारे बोलना भी अनर्थदण्ड का ही एक प्रकार है। वचन का संयम रखने वाला अनेक तरह के झगड़ों से बच सकता है। एक प्रचलित कहावत है कि 'न बोल्यामां नौ गुण' बिल्कुल ठीक ही है। वाचक या अधिक बोलने वाला व्यक्ति कई बार हानिकारक सिद्ध होता है। वैज्ञानिकों के कथनानुसार पाव सेर दूध पीने से जितनी शक्ति आती है, उतनी शक्ति केवल एक अक्षर के उच्चारण करने में ही नष्ट हो जाती है। अधिक बोलने से मानसिक शान्ति और आत्म-शान्ति का भी भंग होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के पहले अध्ययन में भगवान् फरमाते हैं कि—'बहुयं मा य आलवे' अर्थात् अधिक मत बोलो। अधिक बोलना भी वाचिक दूषण है! जो मनुष्य वाणी का संयम रख सकता है उसकी वाणी का प्रभाव भी अद्भुत होता है। मौन-

सेवन से अनेक लाभ होते हैं। मौन से मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास होता है। मनुष्य को प्रतिदिन पाव, आधा या एक घण्टे का मौन अवश्य रखना चाहिये, ऐसी आदत बना लेनी चाहिये। भगवान् महावीर ने दीक्षा अङ्गीकार कर साढे वारह वर्ष तक मौन धारण कर साधना की थी। बुद्ध ने भी मौन सेवन किया था। महात्माजी भी हर सोमवार को मौन रखते थे। मौन के अनेक गुणों का वर्णन करते हुए एक विद्वान ने कहा है कि – Silence is the rest of the mind and is to the spirt what sleep is to the body, nourishment and refreshment, It covers folly, Keeps seerefs, avoids disputs and prevents sin. मौन मनका विश्राम है, निद्रा से जैसे शरीर को आराम और ताजगी मिलती है, वैसे ही मौन से भी आत्मा को आराम और ताजगी मिलती है। मौन रखने से कई वार अपना अज्ञान छिपाया जा सकता है, कोई वात न कहनो हो तो उसे गुप्त रखा जा सकता है। मौन से कई झगड़े टाले जा सकते हैं और कई पापों से वचा जा सकता है।

एक दूसरे विद्वान ने कहा है कि The your tongue, keep it within the banks, a rapidly flowing river soon collects mud. तुम अपनी जिह्वा को बाँध कर रखो और दोनों होठ रूपी किनारों के अन्दर ही रहने दो। जो नदी वेग से वहती है उसमें कूड़ा-कचरा जल्दी इकट्ठा हो जाता है। इसी तरह जो ज्यादा वोला करता है, वह लड़ाई झगड़ा जल्दी कर वैठता है। अतः मितभाषी होना शारीरिक और आत्मोन्नति के लिये श्रेयस्कर है।

परन्तु मौन की आराधना आज तो दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है। आज के युग को 'कोलाहलमय युग' कहें तो भी असमीचीन न होगा। आज का समाज क्या है, होहल्ला करने वाली एक संस्था। एक लेखक द्वारा लिखे गये ये शब्द यथार्थ ही हैं। आज का सामाजिक जीवन दौड़-धूप प्रधान और कोलाहल-मय वन गया है। शहर की गलियों में, होटल या रेस्टोरेंट में, वाजार या आम पब्लिक स्थानों पर चले जाइये, सर्वत्र दौड़-धूप और कोलाहल ही मचा दिखाई देगा। रेडियो, ग्रामोफोन और लाउडस्पीकर इस कोलाहल के मुख्य प्रचारक हैं। मनुष्य को आज विना वात-चीत का जीवन शुष्क प्रतीत होता है। इस यंत्र-युग ने तो आज मानवमात्र की शान्ति का अपहरण कर लिया है।

फिर भी यदि मनुष्य को सच्ची शान्ति की चाहना होगी तो उसे 'मौन' की महत्ता समझनी ही पड़ेगी और देर अवेर उसे अपने जीवन में स्थान देना ही होगा। यूरोप और अमेरिका के लोग भी आज कोलाहलमय समाज से घवरा गये हैं। उन लोगों ने तो वहाँ इसकी विरोधी संस्थाएँ (Anti noise leagues) भी स्थापित की हैं।

संस्कृत में एक सुभापित है—'मौनं सर्वार्थसाधनम्' मौन सव वस्तुओं का साधक है। अधिक वोलने वाला सत्य से विमुख होता है। जितने शब्द कम होते हैं, सत्य का अंश उतना ही अधिक होता है। सत्य-साधक को मौन का विशेप रूप से अवलम्वन लेना पड़ता है। भोजन के उपवास से शब्दों का उपवास अधिक वढ़ा-चढ़ा होता है, जिससे उसका भाव तप में समावेश किया गया है। मनुष्य को जीभ का उपयोग करने के वजाय कर्त्तव्य पालन के लिये हाथ का उपयोग अधिक करना चाहिये।

वाचालता की तुलना में तलवार और अग्नि तो अल्प हानिकर शस्त्र हैं। जीभ को वश में रखने के लिये भिन्न-भिन्न अंग्रेज विद्वानों ने कई तरह से समझाया है। जीमरमेन कहता है कि:—Open your mouth and purse Cautiously and your stock of wealth and reputation shall, at least in repute, be great तुम अपने पैसों की थैली और मुँह को विचारपूर्वक खोलना, जिससे कि तुम्हारी सम्पत्ति और कीर्ति में वृद्धि होगी। पाइथे गोरस कहता है कि—A wound from a tounge is worse than a wound from a sword for the latter effects only the body, the former the spirit तलवार के घाव से भी शब्दों का घाव अधिक खराब होता है, क्योंकि तलवार तो शरीर को ही चोट पहुँचाती है, परन्तु शब्द तो आत्मा को चोट पहुंचाते हैं। एक दूसरे विद्वान ने कहा है कि—By examining the tounges, physicians find out the diseases of the body and philosophers, the diseases of the mind and heart जैसे डाक्टर जीभ की परीक्षा द्वारा शरीर के रोगों का पता लगा लेते हैं, वैसे ही तत्ववेत्ता भी मनुष्य की जीभ से मन और आत्मा के रोगों को समझ लेते हैं। एक जापानी कहावत है कि—the tounge is but three inches long yet it kill a man six feet high जीभ केवल तीन इंच की है पर वह छह फीट ऊँचे आदमी को मार सकती है।

जीभ को आप मित्र भी बना सकते हैं और दुश्मन भी। हित मित और मधुर वचन बोलने से वह तुम्हारी मित्र बनती है और इसके विपरीत बिना विचारे कठोर शब्द बोलने से शत्रु।

एक मनुष्य जंगल में जाता है, जहाँ एक तरफ सोने की खान है और दूसरी तरफ कोयले की भी। दूसरा मनुष्य उसे कुदाली देता हुआ कहता है कि 'तेरी इच्छा हो वह खान खोद कर ले जाना।' तब कहिये, कौन ऐसा मूर्ख होगा जो सोने की खान छोड़कर कोयले की खान खोदने बैठेगा? हमको भी कुदाली की तरह जीभ मिली हुई है। इस जीभ का उपयोग मधुर वचन में न कर कटु वचन बोलने में करना सुवर्ण के बजाय कोयले की खान को खोदने जैसा है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीभ पर संयम रखो और इसे अपना मित्र बनाओ। 'मौखर्य' नामक अतिचार जीभ पर संयम रखने को ही कहता है। इस अतिचार से मुक्त होने के लिये वाचालता कम कर मौन की साधना करनी चाहिये।

असमीक्ष्याधिकरण—निष्प्रयोजन दूसरों को हिंसा के साधन देना 'असमीक्ष्याधिकरण' है, जो कि चौथा अतिचार है। भाव से किसी का अपमान करने का विचार बना रखना, इसका भी इस अतिचार में समावेश हो जाता है।

उपभोगाधिकत्व—अपनी आवश्यकता से अधिक कपड़े, बूट, मोजें आदि वस्तुओं का संग्रह करना उपभोगाधिकत्व नाम का पाँचवाँ अतिचार है। धोतीजोड़े, कोट, कमीज, साड़ियाँ, दागिनें, हीरा, मोती, माणिक और लीलम के सेट आदि आवश्यकता से अधिक परिमाण में रखना 'उपभोगाधिकत्व' है। पहनने वाला एक और सेट अनेक, बैठने वाला एक और कुर्सियें अनेक यह परिस्थिति इस व्रत के आराधक के लिये त्याज्य है।

एक आदमी रेल, ट्राम या बस में अधिक जगह रोक कर नहीं बैठ सकता है। रेल में भीड़ होने पर भी एक आदमी चार आदमियों की जगह रोक कर बैठे तो वह असभ्य कहा जाता है।

तब फिर अनाज, शक्कर और अन्य वस्तुओं की देश में जब कमी हो, तब एक मनुष्य चार आदमी को पर्याप्त हो सके उतनी वस्तुओं का संग्रह कर बैठे तो क्या वह उचित कहा जा सकता है? सामाजिक दृष्टि से भी यह वृत्ति उचित नहीं है।

आवश्यकताओं को घटाने में आर्यत्व रहा हुआ है और बढ़ाने में अनार्यत्व। आवश्यकताएँ बढ़ाने से बढ़ती हैं और घटाने से घटती हैं। हमारे पूज्य गुरुदेव अनर्थदण्ड की विशाल व्याख्या करते हैं। वे फरमाते हैं कि शरीर निर्वाह के लिए भोजन वस्त्र लेना अर्थदण्ड है, पर रसास्वाद के लिये भोजन करना और विलास के लिये वस्त्राभूषण धारण करना अनर्थदण्ड है। सूत के, खादी के वस्त्र अर्थदण्ड है जब कि चमकते हुए मील के तथा रेशमी वस्त्र पहनना अनर्थदण्ड है। सौभाग्य की चूड़ी अर्थदण्ड है, सोना, चाँदी, मोती आदि की बंगड़ी अनर्थदण्ड है। सौभाग्य बिन्दु अर्थदण्ड है, लिपस्टीक पाउडर और नख रंगने की चीजें अनर्थदण्ड हैं। मिट्टी के और सादी धातु के बर्तन अर्थदण्ड हैं, सोना-चाँदी के बर्तन अनर्थदण्ड है। रोटी, दाल, शाक अर्थदण्ड हैं, जब कि चटनी, मुरब्बा, अचार, मसाला, सेव, कचोरी आदि उत्तेजक वस्तुए' अनर्थदण्ड हैं। तृष्णा शान्त करने के लिये पानी का उपयोग अर्थदण्ड है, जब कि स्वाद के लिये बरफ, शरबत सोडा, लेमन आदि पीना अनर्थदण्ड है। पैदल चलना अर्थदण्ड है, जब कि रेल, मोटर, एरोप्लेन का अनावश्यक प्रवास अनर्थदण्ड है।

आज दुनिया में विज्ञान की नई-नई शोधों ने अनेक निरर्थक वस्तुएँ पैदा की हैं। वस्तुओं के उत्पादन के साथ पापों की परम्परा भी बढ़ी है। इस दृष्टि से अन्य पापों से अनर्थदण्ड का

पाप अधिक ज्ञात होता है। इसे कम किये बिना जीवन की शुद्धि होना सम्भव नहीं है।

समाज इस अनर्थदण्ड को समझे और उसका त्याग करे तो अनर्थों का नाश हो सकता है। अनर्थदण्ड का सेवन अनर्थ उत्पन्न करता है और उसका त्याग अनर्थों का नाश करता है।

अनर्थदण्ड का त्याग कर जीवन को शुद्ध करने पर ही सामायिक व्रत में प्रवेश किया जा सकता है। अनर्थदण्ड से मन तन्दुलमच्छ की तरह पाप-प्रवृत्ति में मग्न रहता है। वचन कौए की तरह कर्कश होता है, काया श्वान की तरह चपल रहती है। ऐसे योग वाले सामायिक में कैसे प्रवेश कर सकते हैं? सामायिक व्रत के आराधक को पहले अनर्थदण्ड का त्याग करना चाहिये इसलिए सामायिक व्रत से पहले अनर्थदण्ड का व्रत रखा गया है।

किसान खेती करने से पूर्व जैसे निरर्थक घास-फूस उखाड़ फैंकता है, वैसे ही सामायिक में समभाव के बीज बोने से पहले अनर्थदण्ड के घास-फूस को उखाड़ फैंकना चाहिये। अनर्थदण्ड का त्याग कृत्रिम जीवन जीने वाले को बाघ जैसा विकराल लगता है, जब कि प्राकृतिक जीवन जीने वाले को बड़ा सरल लगता है।

अनंत ज्ञानी प्रभु ने अनंत ज्ञान द्वारा अनंत उपकार किये हैं, उसमें भी यह अनर्थदण्ड का स्वरूप समझा कर महान् उपकार किया है। सब पापों का मूल अनर्थदण्ड ही है। अतः उसका त्याग कर समताभाव में आने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये।

❀　　❀　　❀

सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना दुराचरण में लगी हुई अपनी आत्मा करती है। दया-शून्य

दुराचारी को अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नहीं आता, परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणों को याद कर-कर पछताता है।

जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो कि 'मैं शरीर छोड़ सकता हूँ, परन्तु अपना धर्म-शासन छोड़ ही नहीं सकता, उसे इन्द्रियाँ कभी विचलित नहीं कर सकतीं, जसे— भीषण बवण्डर सुमेरु पर्वत को।

समस्त इन्द्रियों को खूब अच्छी तरह समाहित करते हुए पापों से अपनी आत्मा की निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिये। पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटका करती है और सुरक्षित आत्मा संसार के सब दुःखों से मुक्त हो जाती है।

९

सामायिक-व्रत

शरीर के पोषण के लिये जैसे भोजन की आवश्यकता होती है वैसे ही आत्म-पोषण के लिये भी भाव-भोजन की आवश्यकता रहती है। शरीर रक्षण के लिये योग्य खुराक न मिले तो शरीर दुर्बल और तेजोहीन हो जाता है। ऐसे ही आत्मा भी भाव-खुराक के अभाव में तेजोहीन और निर्बल हो जाती है। आज मनुष्यों में आत्म-बल का जो अभाव प्रतीत होता है उसका कारण यही है कि उसे भाव-पोषण नहीं मिलता है। शरीर की खुराक अन्न है और आत्मा की खुराक 'सामायिक' है। इसे ही हम भाव खुराक के नाम से भी कहते हैं। श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी ने सामायिक का गृहस्थ धर्मों में नववां स्थान प्रदान किया है।

सामायिक करो या आत्मस्वरूप की प्रार्थना, दोनों ही समभाव और सत्य की उपासना है। आत्मा को बलवान बनाने के लिये सामायिक की उपासना अत्यंत आवश्यक है। हमारे अन्धकारमय जीवन को प्रकाशित करने के लिये और पौद्गलिक पदार्थों के प्रति रहा हुआ ममत्व दूर कर आत्मगुणों में रमण करने के लिये सामायिक की अत्यावश्यकता है।

सामायिक चित्त को स्थिर बनाने की एक तालीम विशेष है। कुछ लोग यह कहते हैं कि हमारा चित्त ही स्थिर नहीं रहता

है, तब फिर सामायिक करके क्या करेंगे ? यह बात सच है कि मनुष्य का चित्त स्थिर नहीं रहता है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि चित्त को स्थिर बनाने के लिये ही सामायिक व्रत का आयोजन किया गया है। प्रतिदिन सामायिक द्वारा चित्त स्थिर करने का अभ्यास किया जावे तो धीरे-धीरे स्थिरता आ जायगी। चित्त को स्थिर करने की दुनिया में अगर कोई मशीन है तो वह 'सामायिक' ही है।

सामायिक का अर्थ समभाव होता है। सम अर्थात् समता और आय अर्थात लाभ, जिससे समता की या समभाव की प्राप्ति हो उसे सामायिक कहते हैं। शास्त्रकारों ने कहा है कि— **लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा। समो निन्दा-पसंसासु, तहा माणावमाणओ।** अर्थात् लाभ में या हानि में, सुख में या दुःख में, जीवन में या मरण में, निन्दा में या प्रशंसा में, मानापमान में समभाव रखना ही सामायिक की साधना है। शत्रु और मित्र, संपत्ति और विपत्ती सब को एक ही तरह से देखना समभाव है। जब ऐसी दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तब सामयिक सिद्ध हुई कही जा सकती है।

समभाव का अर्थ सामायिक की क्रिया तक ही सीमित नहीं होना चाहिये। बल्कि उसे सभी प्रवृत्तियों में घुलमिल जाना चाहिये। सूर्य में रहा हुआ प्रकाश किसी से छुपा नहीं रह सकता है। फूल में रही हुई सुवास भी तुरन्त प्रकट हो जाती है। चन्द्रमा की शीतलता और अग्नि की उष्णता प्रकट हुए बिना रहती नहीं है और जैसे हीरे की चमक शीघ्र प्रतीत हो जाती है, वैसे ही सामायिक से साधकों का समभाव भी उनकी प्रत्येक क्रियाओं में प्रकट हुए बिना रहता नहीं है। सामायिक का साधक घर में हो

या दुकान में, जेल में हो या कचेरी में, श्मशान में हो या आलीशान बंगले में, सब जगह वह समभावमय ही दिखाई देता है। इस प्रकार समभाव की साधना को जीवन-व्यापी बनाना ही सामायिक का ध्येय है।

सामायिक व्रत अन्य सभी व्रतों का आधारभूत व्रत है। आपने मधुमक्खियों के छत्ते को देखा होगा। उसमें अनेकों मक्खियाँ काम करती हैं उन मक्खियों में एक रानी मक्खी होती है जिसके आश्रित ही अन्य सभी मक्खियाँ रहती हैं। वह रानी मक्खी जब तक छत्ते में रहती है, तब तक अन्य सभी मक्खियाँ भी इसमें रहती हैं। परन्तु जब वह उड़ जाती है तो अन्य सभी मक्खियाँ भी उसके साथ उड़ जाती हैं यही हाल सामायिक व्रत का और अन्य व्रतों का भी है। जहाँ तक समभावरूप सामायिक का सद्भाव होता है, वहाँ तक ही अन्य सभी व्रत बने रहते हैं, इसके अभाव में वे कायम नहीं रह सकते हैं!

आइये, अब हम यह देखें कि सामायिक का अधिकारी कौन बन सकता है? सामायिक की साधना में जैन धर्म का सार आ जाता है। सामायिक यानी समभाव को प्राप्त करने की एक विशिष्ट तालीम। सामायिक यानी समता के सागर में डुबकी मारना। आप सब बम्बई में रहते हैं। अतः यहाँ के 'स्वीमींग बाथ' से आप अपरिचित न होंगे। वह समुद्र में लाखों रुपयों के खर्च से बनाया गया है। इसमें किसी को तैरने जाना हो तो १० रु० प्रवेश फी देनी पड़ती है। प्रविष्ट होने के पहले शरीर की जांच भी की जाती है। प्रविष्ट होने वाले को डाक्टर का सार्टिफिकेट भी पेश करना पड़ता है कि मेरे शरीर में कोई चैपी रोग नहीं

है। इसके बाद इन्सपेक्टर उसकी जाँच करता है और फिर उसे प्रविष्ट कर लिया जाता है।

'स्वीमींग बाथ' में तैरने आने वाला सीधा वहाँ नहीं जाता है। पहले उसे शरीर के मैल को दूर करने के लिये दूसरे स्थान पर नहाना पड़ता है। 'इसके बाद वह स्वीमींग बाथ में तैरने का अधिकारी बनता है।

समुद्र के खारे पानी में नहाने के लिये भी जब इतनी विधि करनी पड़ती है तब सामायिक रूप समता को शान्त समुद्र में नहाने के लिये इससे भी अधिक विधि करनी पड़े तो यह स्वाभाविक ही है। अनर्थदण्ड के चैपी रोग से जो मुक्त होता है, उसे ही समतारस के समुद्र में स्नान करने का शास्त्रकारों ने अधिकार दिया है, दूसरों को नहीं।

कुछ लोग सामायिक का अर्थ निवृत्ति लेना ही करते है। जो कि सामायिक का अधूरा अर्थ है। क्योंकि निवृत्ति भी बिना प्रवृत्ति के टिक नहीं सकती है। अतः सामायिक में सावद्य योग का त्याग तो करना पड़ता है, परन्तु साथ ही साथ निरवद्य योग में प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है। बिना शुभ प्रवृत्ति किये अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसीलिये सामायिक की व्याख्या करते हुए एक जगह कहा गया है।

सामाइयं नाम सावज्ज-जोग परिवज्जणं,
निरवज्ज-जोग पडिसेवणं च।

सावद्ययोग का त्याग कर निरवद्ययोग में प्रवृत्ति करना ही सामायिक है।

मन, वचन और कर्म में सावद्यता न रहे यही सामायिक का उद्देश्य है। सामायिक करने वाले मन, वचन और कर्म क्रमशः निर्विकार और पवित्र होते जाते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में सामायिक की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

जो समो सव्व-भूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासियं ॥

जिससे त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति समभाव रहे उसे सामायिक व्रत कहते हैं। यों तो सामायिक शारीरिक क्रिया है, पर मन पर उसका मुख्य आधार है। क्योंकि शरीर स्थिर हो, पर मन अस्थिर हो तो सामायिक की साधना नहीं की जा सकती है। राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का शरीर ध्यानस्थ था, पर मन उसका अस्थिर था, शुभ ध्यान से रहित था, तब वे सातवीं नरक का आयुष्य बाँध रहे थे। परन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने अपने मन को काबू में कर आत्म-भाव में डुबा दिया तो कैवल्य की प्राप्ति हो गई थी। इस प्रकार सामायिक का मुख्य आधार मन की स्थिरता पर रहा हुआ है। यह स्थिरता केवल एक कलाक की ही नहीं, पर जीवन-व्यापी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। अपनी दिनचर्या में विषम भाव के बदले समभाव की वृत्ति कायम करने का प्रयास करना चाहिये।

प्राणी मात्र में स्वसुख और स्व-रक्षण की भावना रही हुई है। लट को अंगुली का स्पर्श होते ही वह सिकुड़ जाती है। स्व-रक्षण की वृत्ति से वह अपना शरीर संकुचित कर लेती है, ताकि कोई उसे मारे नहीं। मनुष्य पशु के सामने लकड़ी लेकर खड़ा हो

जाय तो वह इधर-उधर दौड़ने लग जाता है, और मनुष्य भी जब कभी अपने सामने पशुओं को लड़ते देखता है, तो उनसे बचने के लिये वह एक ओर खिसक जाता है। इस प्रकार चींटी से लेकर मनुष्य तक सब में स्वरक्षण की वृत्ति रही हुई है। इस स्वरक्षण की वृत्ति को सर्व रक्षण की वृत्ति में बदल देना ही सामायिक का ध्येय है। सामान्यत: मानव की दृष्टि अपने देह, इन्द्रिय और भोगों तक की सीमित रहती है। कुछ आगे बढ़ती है तो परिवार तक पहुँच कर स्थिर हो जाती है। इस सीमित दृष्टि को समभावी बनाकर विश्व-व्यापक बनाना ही सामायिक का ध्येय होता है। जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे दूसरों को भी वह प्रिय है। ऐसा समझ कर दूसरों यो कष्ट न देना और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना प्रशस्त करना ही सामायिक का कर्तव्य होना चाहिये। समभाव की प्राप्ति के साथ-साथ राग-द्वेष को जीतने में ही सामायिक की सिद्धि रही हुई है।

जहाँ सामायिक होती हो, वहाँ द्वेष, क्लेश, लड़ाई-झगड़े या युद्ध कभी नहीं हो सकते हैं। न ऊँच-नीच के भेद-भाव ही कायम रह सकते हैं। वहाँ स्पर्शास्पर्श की कृत्रिम दीवालें भी नहीं होती हैं, परन्तु आज तो ऊँच-नीच के भेदभाव बढ़ते जा रहे हैं, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में और कुटुम्ब कुटुम्ब के बीच में झगड़े चल रहे हैं। एक समाज का दूसरे समाज से विरोध चल रहा है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से युद्ध की बातें कर रहा है। इन सब संघर्षणों को दूर करने की एकमात्र औषधि 'समताभाव' ही है, जो कि सामायिक द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

सामायिक के दो प्रकार हैं—द्रव्य-सामायिक और भाव सामायिक। जीवन की हरएक प्रवृत्ति में समता रखना भाव सामा-

यिक है। भाव सामायिक की सिद्धि के लिये साधनरूप जो क्रिया की जाती है उसे 'द्रव्य सामायिक' कहते हैं। साधक का ध्येय द्रव्य सामायिक को भाव सामायिक बनाने का होना चाहिये और इस के लिये उसे प्रयत्नशील भी रहना चाहिये।

साधारणतया रिस्टवाच (हाथ-घड़ी) में एक बार चाबी दे दी जाती है, तो वह चौबीस घंटे तक बराबर चलती रहती है। दीवाल घड़ी, एक बार चाबी दे देने पर आठ रोज तक बराबर चलती रहती है। परन्तु कोई घड़ी ऐसी हो कि जब तक आप उसमें चाबी भरते रहें तक ही वह चलती रहे और चाबी भरना बन्द किया कि वह भी बन्द हो जाय, तो कहिये उसे आप घड़ी कहेंगे या खिलौना ? वह समय बताने वाली घड़ियाल नहीं कही जा सकेगी, परन्तु उसका शुमार खिलौने में ही किया जायगा! इसी प्रकार जो मनुष्य सामायिक करे, वहाँ तक ही उसका समभाव कायम रहे और फिर उसके आचरण में विषमता आ जाय, उसकी प्रवृत्तियों में समता का अंश भी दिखाई न दे, समझ लेना चाहिये कि उसकी सामायिक सच्ची सामायिक नहीं है। वह द्रव्य सामायिक भी आभास मात्र ही है। ऐसी स्थिति में भाव सामायिक की कल्पना करना, तो आकाश से फूल चुनना ही कहा जायगा।

वर्षों तक सामायिक करने पर भी समभाव की सिद्धि न हुई हो, तो शान्त चित्त से आत्म निरीक्षण करना चाहिये और समभाव के मार्ग में जो जो बाधक तत्त्व अन्तरायरूप होते हों, उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

बालपोथी पढ़ने वाला छोटा बालक एक वर्ष में जिस किताब को पूरी करता है उसे ही आठवीं कक्षा का विद्यार्थी एक

घण्टे में पढ़ डालता है। बालपोथी पढ़ने वाले में और आठवीं कक्षा के लड़के में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर, पवित्रता और समतारस को लेकर, सामायिक शुरु करने वाले में और वर्षों से सामायिक करने वाले में भी होना चाहिये।

वर्षों तक अभ्यास करते रहने पर भी जो विद्यार्थी बाल-पोथी में ही रहे, आगे नहीं बढ़े तो उस के लिये आप क्या विचार करेंगे? इसी तरह वर्षों से सामायिक करने वाले में भी समभाव वृत्ति प्रकट न हुई हो, तो उसके लिये आप किस को निमित्तभूत मानेंगे?

एक बार हमारे पूज्य गुरुदेव ने फरमाया था कि 'कोई मनुष्य मकान बनाने का विचार कर बाँध काम शुरु करादे, परन्तु दिन में बनी हुई भींत रात में गिर जाती हो, तो कहिये उसका बाँध काम कभी पूरा भी हो सकेगा? वर्षों तक उसका बाँध काम क्यों न चलता रहे, पर इस तरह वह कभी पूरा नहीं हो सकेगा। यही हाल सामायिक का भी है। सामायिक में समभाव की दीवाल खड़ी की जाती है, परन्तु सामायिक पूरी हो, न हो, तब तक तो यह समभाव की दीवाल गिर कर चकनाचूर हो जाती है, तब कहिये, ऐसी स्थिति में समभाव में कभी वृद्धि हो सकेगी?

पाया मजबूत न हो तो दीवाल गिर जाती है। इसी तरह सामायिक का पाया भी मजबूत न हो तो उसका समतारस बह जाता है। सामायिक का पाया विवेक है। अतः समभाव को दृढ़ रखने के लिये विवेक का पाया भी दृढ़ बनाना चाहिये।

पहले के जमाने के श्रावकों में और आज के श्रावकों में जमीन-आसमान का अन्तर हो गया है। पहले के श्रावकों में सामायिक प्रतिक्रमण आदि धर्मक्रियाओं के प्रति पूर्ण श्रद्धा होती

थी। जिसका कि आज नितान्त अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। सूरत के एक प्रतिष्ठित जवेरी को झूठा आरोप लगा कर कैद में डाल दिया गया था। सामायिक और प्रतिक्रमण करने का उसको रोज का नियम था। परन्तु जेल में धार्मिक क्रिया करने की सुविधा नहीं थी अतः उसने जेल के व्यवस्थापक से कहा—जैसे आपको नमाज पढ़नी होती है वैसे हमको भी धार्मिक क्रिया करनी पड़ती है। अतः इस की सुविधा कर देंगे, तो मैं आपका आभारी होऊँगा। व्यवस्थापक भला आदमी था। अतः उसने सेठ के लिये धार्मिक क्रिया करने की सुविधा कर दी। सेठ इससे इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपने पुत्र को हर रोज पाँच सौ रुपया व्यवस्थापक को इनाम में देने के लिये कह दिया।

कुछ दिनों वाद ही सेठ पर लगाया गया आरोप झूठा सिद्ध हुआ और उसे निर्दोष छोड़ दिया गया। जेल के व्यवस्थापक ने सोचा—इस इनाम की खबर वादशाह को लग जायगी, तो वह मुझे दण्ड दिये विना नहीं रहेगा। अतः वह सेठ को सब रुपया वापिस देने लगा। सेठ ने कहा—भाई, ये रुपये तो मैंने तुम्हें प्रेम से भेंट किये हैं, इसमें तुम्हें घवराने की कोई वात नहीं है। मैंने तो तुम्हें रोज पाँच सौ रुपये ही दिये हैं, परन्तु तुमने तो मुझे जिस की कोई कीमत ही नहीं हो सकती ऐसा अमूल्य सामायिक-रत्न प्रदान किया है। प्रतिदिन सामायिक-रत्न कमाने का मौका प्रदान कर तुमने मेरे पर विशेष उपकार किया है।

कहने का आशय यह है कि सेठ ने जेल में भी अपना सामायिक का नियम नहीं छोड़ा था। ऐसे थे पहले के श्रावक। परन्तु आज तो शिथिलता ही नजर आती है। ऐसा दृढ़ नियम-पालन आज कहीं देखा जाता है।

मुसलमानों को देखिये, वे प्रतिदिन समय पर नमाज पढ़ेंगे ही। वे प्रवास में हों या जंगल में, पर नमाज के समय फौरन नमाज पढने लग जायेंगे। किसी भी स्थिति में वे नमाज पढना भूलेंगे नहीं। परन्तु आपकी क्या स्थिति है? आपके पास समय हो, पर आप उसे विकथा में गँवा दें, तो यह आपके लिए लज्जाजनक बात ही कही जायगी। जो श्रावक है, उसे सामायिक-प्रतिक्रमण करने का तो प्रतिदिन नियम रखना ही चाहिये।

कुछ लोग, जैसा कि पहले मैंने कहा, यह कहते हैं कि सामायिक तो हम करते हैं, परन्तु हमारा मन स्थिर नहीं रहता है। मन को स्थिर बनाने के कई उपाय हैं, पर इसका मुख्य आधार आजीविका की शुद्धि पर रहा हुआ है। सत्य और प्रामाणिकता से जीवन निर्वाह करने पर चित्त शुद्ध और स्थिर रह सकता है। इसके अभाव में मन की स्थिरता नहीं रह सकती है।

पूणिया श्रावक की सामायिक हमारे यहाँ प्रसिद्ध है। उसने अपने पास बारह आना की ही पूंजी रखी थी। इस से वह रूई खरीद कर पूणियाँ बनाता था और उसी को बेच कर अपनी आजीविका चलाता था। एक बार जब वह सामायिक में बैठा हुआ था, तब रोज की तरह उसका मन स्थिर नहीं था। इससे वह विचार में पड़ गया। उसने सोचा, हो न हो आज बिना हक की वस्तु का उपयोग हो गया है, अन्यथा चित्त की स्थिरता विचलित क्यों न हो! उसने अपनी सारी दिनचर्या पर नजर दौड़ाई पर कहीं भी उसे भूल प्रतीत न हुई और न किसी बिना हक की वस्तु का उपयोग किया ही प्रतीत हुआ। सामायिक पूरी होने पर उसने अपनी धर्मपत्नी से पूछा—आज भोजन में किसी दूसरे घर की वस्तु तो नहीं आ गई थी न? उस की पत्नी ने कहा—'भोजन में तो दूसरे

घर की वस्तु नहीं आई थी, पर चूल्हा जलाने के लिये पडौसी के घर का जला हुआ छाणे (कंडे) का टुकड़ा मैं बिना पूछे जरूर उठा लाई थी।' पत्नी के इस स्पष्टीकरण से पूणिया श्रावक को सामायिक में चित्त स्थिर नहीं रह सकने का कारण समझ में आ गया। उसने अपनी पत्नी को फिर कभी भविष्य में इस प्रकार न बनें, समझा दिया।

केवल मात्र दूसरे के घर की एक तुच्छ-सी वस्तु कंडे (छाणे) का उपयोग करने वाले का चित्त भी सामायिक में स्थिर नहीं रह सकता है, तो दूसरों के श्रम से कमाये गये धन पर मजा करने वालों का मन सामायिक में कैसे स्थिर रह सकता है? अतः सामायिक व्रत की शुद्ध आराधना करने के लिये उसकी प्राथमिक भूमिका रूप आजीविका की शुद्धि करना और आवश्यक खर्च घटाना आवश्यक होता है।

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं—'योग-दुष्प्रणिधानाऽनादार-स्मृत्यनुपस्थापनानि।' हाथ, पैर आदि अंगों का अयोग्य संचालन करना अथवा छह काय के जीवों की हिंसा करना या उन्हें दुःख पहुँचे ऐसी प्रवृत्ति करना काय-दुष्प्रणिधान नामक पहला अतिचार है।

संस्कार रहित और अर्थ-हीन भाषा बोलना, छह काय के जीवों की हिंसा हो या उन्हें दुःख पहुंचे ऐसा वचन बोलना वचन दुष्प्रणिधान है।

क्रोध, द्रोह आदि के वशीभूत होकर मनोव्यापार करना मनदुष्प्रणिधान नामक तीसरा अतिचार कहा गया है।

सामायिक में उत्साह न रखना, सामायिक के समय में उसमें प्रवृत्त न होना, जैसे-तैसे अव्यवस्थित रूप से सामायिक करना अनादर नामक चौथा अतिचार है।

एकाग्रता के अभाव से या चित्त की अव्यवस्था से अधूरी सामायिक पार लेना स्मृति अनुपस्थान नामक पाँचवाँ अतिचार है।

इन पाँचों अतिचारों से दूर रह कर शुद्ध सामायिक करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

शास्त्रकारों ने सामायिक को भी षडावश्यकों में स्थान दिया है। अतः यह प्रतिदिन करनी ही चाहिये। आपको अपने अन्य कार्यों के लिये जैसे समय निकालना पड़ता है, वैसे ही सामायिक के लिये भी कम से कम एक कलाक का समय आपको अवश्य प्रतिदिन निकाल लेना चाहिये। यह आत्मा की खुराक है, जो उसे रोज मिलनी ही चाहिये। अन्यथा इसके अभाव में वह पुष्ट नहीं हो सकेगी।

१०

देशावकाशिक-व्रत

जैसे बिना पतवार की नौका समुद्र में चारों तरफ से टकरा कर टूट जाती है वैसे ही व्रत या संयम रहित मानव भी चारों तरफ से टक्कर खाकर पतन को प्राप्त होता है। जीवन को विशेष संयमी बनाने के लिये ही ये सभी व्रत हैं, उनमें दसवां देशावकाशिक व्रत है।

छठे व्रत में दिशाओं की जो मर्यादा बांधी गई हो, उनमें संवर की वृद्धि के लिये प्रतिदिन की दिशा-मर्यादा में कमी करना और सातवें व्रत में जो उपभोग-परिभोग की मर्यादा रखी है उसमें एक दिन के लिये कमी करने का इस व्रत का उद्देश्य है। मनुष्य दिशाओं की या उपभोग-परिभोग की जीवन-पर्यन्त जो मर्यादा कर लेता है, तदनुसार वह प्रतिदिन उनका उपभोग नहीं करता है अतः आवागमन के क्षेत्र की और भोगोपभोग के पदार्थ की एक दिन के लिये मर्यादा कम करना, इस देशावकाशिक व्रत का उद्देश्य है।

कोई आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि सभी व्रतों में जो मर्यादाएं रखी हों, उन सब मर्यादाओं में कुछ समय के लिये कमी करना देशावकाशिक व्रत है। चौथा, पांचवां, छठा, सातवां आदि

व्रतों में जो अधिक छूट रखी गई हो उसे कुछ समय के लिये अधिक मर्यादित करना चाहिये, ऐसा उनका कहना है।

वर्तमान समय में उपवास करके, पानी पी के अथवा एकासना करके २४ घण्टे के लिये १८ पापस्थानों का त्याग कर संवरकरणी में समय बिताना दसवाँ व्रत माना जाता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—'**आनयन-प्रेष्य-प्रयोग-शब्दरूपानुपात-पुद्गलप्रक्षेपा:।**' आनयन अर्थात् जितने प्रदेश का नियम किया है उससे बाहर की वस्तु मंगाना। स्वयं न जाकर नौकर से मंगाना 'प्रेष्य प्रयोग' है। आवाज देकर मकान के बाहर किसी व्यक्ति को बुलाना 'शब्दानुपात है। शब्द कहे बिना वस्तु की आकृति बनाकर मर्यादा से बाहर वस्तु मंगाई हो या किसी को संकेत से बुलाना हो तो यह 'रूपानुपात' है। कंकर या ढेला फेंक कर किसी को अपने निकट आने की सूचना करना 'पुद्गल प्रक्षेप' है। दशवें व्रत के आराधक को इन अतिचारों से दूर रहना चाहिये।

इस व्रत से उपभोग-परिभोग की वृत्तियों को संयमित करने का अभ्यास किया जा सकता है।

आजकल दशवाँ व्रत करने की एक दूसरी प्रणालिका भी चालू है। मालवा, मेवाड़, मारवाड़ आदि स्थानों पर दशवाँ व्रत करने की प्रथा है। दशवाँ व्रत करने वाला एक बार भोजन करता है। शेष समय सामायिक संवर, ज्ञान, ध्यान आदि संवर करणी में व्यतीत करता है। दशवाँ व्रत करने वाला अपने खर्च से सभी व्रतधारी भाई-बहनों को खिलाता है। कई असहाय भाई-बहन भी इसका लाभ लेकर धर्माराधन कर सकते हैं।

कई लोग दशवें व्रत में मिठाइयाँ और दूसरी तैयार बनी-बनाई वस्तुएँ लाकर उपयोग करते और यह समझते थे कि तैयार वस्तुएँ लेने से आरम्भ से बच जाते हैं। इस प्रश्न को दूर करने के लिये पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज ने अल्पारम्भ और महारम्भ का सुन्दर प्रतिपादन कर समाज को सत्य स्वरूप का भान कराया था।

भगवतीसूत्र में शंखली, पोखलीजी का अधिकार आता है। इन्होंने इस व्रत की आराधना करने के लिये बाजार की तैयार वस्तुएँ नहीं मंगाई थीं, लेकिन अपने यहाँ बनी हुई वस्तुओं का ही उपयोग किया था। यदि तैयार वस्तुओं के उपयोग से आरम्भ से बचा जा सकता था तो उन्होंने उनका उपयोग क्यों नहीं किया ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि तैयार वस्तुओं के उपयोग से आरम्भ से नहीं बचा जा सकता है, बल्कि महाबन्ध का भागीदार होना पड़ता है। जीवन की सभी प्रवृत्तियों में महारम्भ का त्याग कर जीवन की आवश्यकताएँ घटा कर जीवन को पवित्र बनाना चाहिये। महारम्भी वस्तुओं के त्याग का आदर्श, दृष्टि समक्ष रख कर श्रावक को अपना जीवन पवित्र मार्ग में बिताना ही इस व्रत का आशय है।

❀ ❀ ❀

क्षेत्र या देश सम्बन्धी मर्यादा करना देशावकाशिक-व्रत है। गृहस्थ को यथासम्भव स्वदेश से बाहर से मँगाई हुई वस्तु का उपयोग नहीं करना चाहिए। स्वदेशप्रेम और स्वदेशाभिमान रखना और स्वदेश को भूखे मरने में साधनभूत न बनाना भी गृहस्थ का देशावकाशिक-व्रत है।

११

पौषध-व्रत

हमारे शरीर के फेफड़ों में निरन्तर संकोच और विकास की क्रिया होती रहती है। हृदय में सतत धड़कन होती रहती है। नाड़ियों की धकधक अविरत रूह से होती रहती है और रक्त का संचार भी अविरल होता रहता है। ये सभी जब तक गतिशील रहते हैं तब तक मनुष्य जीवित रहता है। जिस क्षण यह गति अवरुद्ध हो जाती है उसी क्षण मानव की मृत्यु हो जाती है।

इसी तरह मनुष्य भी जब तक सच्चरित्र में गतिशील होता है तब तक ही वह वास्तव में जीवित कहा जा सकता है। जिस क्षण उसका सच्चरित्र में आगे बढ़ना रुक जाता है उसी क्षण वह जीवित होने पर भी मृत-तुल्य हो जाता है। बाह्य दृष्टि से फिर भले ही वह जीवित दिखाई देता हो, पर आभ्यन्तरिक दृष्टि से तो वह मरा हुआ ही है। गृहस्थ को सच्चरित्र का पालन करने के लिये बारह व्रतों की आराधना करनी चाहिये और दिन प्रतिदिन इन व्रतों को विशेष दृढ़ बनाना चाहिये।

ग्यारहवाँ पौषधव्रत है। शरीर को भूखा रख कर आत्मा को पोषना-तृप्त करना पौषधव्रत है। आत्मचिंतन में ही सारा दिवस व्यतीत करना और इस बीच आत्मनिरीक्षण कर आत्म-

भाव में रमण करना पौषधव्रत है। इस व्रत में सभी सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग कर चौबीसों घण्टे धर्म-जागरण में तत्पर होना पड़ता है इस व्रत की आराधना से अनात्म-भाव घटता जाता है और आत्म-भाव का पोषण होता जाता है।

आत्मा का पोषण करने वाले पौषधव्रत को अंगीकार किये हुए मनुष्य के सामने चाहे जितनी भौतिक आपत्तियाँ क्यों न आवें, पर वह उनसे विचलित नहीं होता है! शास्त्र में कामदेव श्रावक का अधिकार आता है। कामदेव श्रावक अपनी पौषध-शाला में पौषधव्रत कर आत्म-भाव में रमण कर रहे थे। इस बीच उनके शरीर पर दैवी उपसर्ग किया गया था परन्तु वे तनिक भी आत्म भाव से विचलित नहीं हुए थे। घोरतम कठिनाइयों में भी स्थिरता बनाये रखना पौषधव्रत की सिद्धि कही जा सकती है और तभी अखण्ड शान्ति भी प्राप्त हो सकती है।

आजकल मनुष्यों में आत्म-बल तो कहाँ रहा, परन्तु आत्म-भाव भी घटता चला जा रहा है। मानव समाज आज अनात्म-भाव की लहरों में बहा जा रहा है। वह जैसे-जैसे बाह्य वैभव प्राप्त करता जा रहा है वैसे-वैसे आत्म-वैभव खोता जा रहा है। परन्तु उसे यह याद रखना चाहिये कि आत्मा को खोकर सारे जगत् की प्राप्ति कर लेना कुछ भी मूल्य नहीं रखती है। अंग्रेजी की एक सुन्दर कविता में यही बात कही गई है—For, what shall it profit a mal if he shall gain the whole world and lose his own soul अर्थात् आत्मा को खोकर सारी दुनिया भी मिल जाय तो इससे क्या लाभ हो सकता है?

मनुष्य आज बाह्य सृष्टि के निरीक्षण के लिये इधर से उधर हजारों मीलों की भाग दौड़ करता है। परन्तु क्या वह अन्तर

सृष्टि के निरीक्षण के लिये पाव घंटा भी किसी दिन बैठता है ? वह यूरोप और अमेरिका के देशों को देखने जाता है, पर अपने हृदय-प्रदेश को देखने का उसे अवकाश हो नहीं मिलता । मनुष्य सुबह उठकर रोज अखबार पढ़ने बैठता है और दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है इसको जानना चाहता है। यदि किसी कारण से अखबार न मिले तो मनुष्य अधीर बन जाता है। दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है ? इसको जानने की उसे इतनी उतावल होती है, परन्तु हृदय में क्या हलचल हो रही है, अपनी वृत्तियों में कैसा संग्राम चल रहा है ? इसे जानने की उसे फुरसत नहीं मिलती है। मनुष्य की ऐसी पामर दशा आज हो गई है। इस पामर दशा से मुक्त होने के लिये, आन्तर वृत्तियों का निरीक्षण करने के लिये और आत्म-विकास साधने के लिये पौषध व्रत एक उत्तम साधन बताया गया है।

आत्मा के लिये एक अंग्रेज विद्वान् ने कहा है कि – He that loses wealth, loses much. he that loses frie. nds loses more. but he that loses his spirit loses all. अर्थात् जो मनुष्य संपत्ति गुमा बैठता है वह बहुत गुमा बैठता है। जो मित्र गुमा देता है वह उससे भी अधिक खो देता है। परन्तु जो आत्मा को खो देता है वह सब कुछ खो देता है। जो मनुष्य भौतिक शक्तियों का संग्रह करता है, वह आत्मिक शक्तियों को गुमा देता है। वह जड़ वैभव की तरफ आकर्षित होता जाता है और आत्म से दूर होता जाता है। इसलिये अनात्म भावों को मिटा कर आत्म-भावों के पोषण के लिये पौषधव्रत की आवश्यकता बताई गई है।

ग्यारहवें पौषधव्रत में श्रावक को धर्म जागरण करते हुए तीन मनोरथों का चिन्तन करना चाहिये। वे तीन मनोरथ ये हैं– आरम्भ, परिग्रह को दिन प्रतिदिन कम करने की भावना, अन्त में इनसे सर्वथा मुक्त होने की भावना और पंडित मरण की भावना।

पहले मनोरथ में आरम्भ-परिग्रह को घटाने का चिन्तन होना चाहिये। श्री ठाणांग सूत्र में फरमान है कि 'जहाँ तक जीव आरम्भ परिग्रह में लीन रहेगा, जहाँ तक आरम्भ परिग्रह के प्रति उदासीन वृत्ति न हुई हो, वहाँ तक जीव धर्माराधना तो क्या, धर्म सन्मुख भी नहीं हो सकेगा। धर्म की प्राप्ति के लिये सब से पहले इस मनोरथ का चिंतन करना चाहिये। परन्तु आज ऐसे चिंतन करने वाले कितने मिल सकेंगे? आज तो जब भी मनुष्य को एकान्त का समय मिलता है, तब वह आरम्भ-परिग्रह को घटाने के बदले बढ़ाने का ही विचार करता है। 'कौन-सा व्यापार करना? कौन-सा कारखाना खोला जाय, जिससे कि घर का बंगला और मोटर हो जाय। परदेश की मुसाफिरी करने का मौका कब आवे? और कब नये उद्योग-धन्धे खोलने का अवसर मिले? इस तरह के विचार ही आत्म-चिंतन के समय भी दिमाग में घूमते रहते हैं। इन विचारों को शीघ्र ही मूर्तस्वरूप दिया जा सके, इसके लिये शीघ्रगामी मोटर, आगगाडी (रेल) और हवाई जहाज जैसे साधनों का उपयोग किया जाता है।

इस प्रकार धन की वृद्धि करने का आशय विलास और आडम्बर बढ़ाने के सिवाय और कुछ नहीं होता है। लग्नादि प्रसंगों में खूब आडम्बर करने का प्रयास किया जाता है। लग्न में इतने हजार खर्च किये, इतने महमान और इतने बाजे वाले बुलाये, इतने हजार के विजली के बल्ब जलाये, गांव में विजली का माजन

न होते हुए भी नई मशीन लगवाई, पंखे लगाये, सिनेमा की भी सुविधा की। बरात वालों को सोना-चाँदी की वस्तुएं भेट की। खूब मेवा-मिष्ठान्न खिलाये, इस प्रकार की झूठी वाहवाही के लिये आज नीति-अनीति का विचार किये विना ही पैसा इकट्ठा किया जाता है। वर और कन्या परस्पर में जहाँ दो आने की फूल की माला पहिना कर भी अपना लक्ष्य पूरा कर सकते हैं, वहाँ आज हजारों और लाखों का खर्च केवल वाहवाही के लिये किया जाता है। इस तरह का अपव्यय कर धन बहाने वाले और वाहवाही करने वाले दोनों ही ज्ञानी की दृष्टि में दयापात्र-अज्ञानी कहे गये है।

सवासौ वर्ष पूर्व पति की मृत्यु हो जाने पर विधवा पत्नी को भी सती हो जाना पड़ता था। उस समय का ऐसा ही रिवाज था कि पत्नी को भी पति के साथ में अग्नि में जल जाना पड़ता था। यह प्रथा अच्छी नहीं थी। आज सभी इसे जंगली प्रथा मानते हैं। परन्तु बाह्याडम्बर में अपने समय, शक्ति और धन का अपव्यय करना तो उस सती होने की प्रथा से भी अधिक भयंकर और घातक प्रथा है। सती होने की प्रथा में तो केवल एक बहिन को ही अपने जीवन का अन्त करना पड़ता है, जब कि आडम्बर की प्रथा तो अनेकों को चिन्ताग्नि में जलाकर राख कर देती है। यदि धर्माचार्य धार्मिक उत्सवों में होने वाले आडम्बरों के प्रति भी उदासीन बन जायें, तो गृहस्थों को भी बोधपाठ मिल सकता है औद समाज आरम्भ-परिग्रह के पाप से बच सकता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—'अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेप-संस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि।' किसी जीव-जन्तु को आँखों से विना देखे, अथवा तो कोमल उपकरण द्वारा

प्रमार्जन किये बिना मल, मूत्र आदि का त्याग करना, देखे बिना पाट, पाटला लेना, बिना पूंजे (साफ किये) बिछौना लगाना, पौषधव्रत करने में उत्साह नहीं दिखाना और पौषध-व्रत का समय याद नहीं रखना, ये पांच अतिचार है। इस व्रत की आराधना से आत्मा पुष्ट और बलवान् बनती है। पौषध सिवाय के दिवसों में भी श्रावकों को उपयुक्त रीत्यानुसार जीवरक्षा के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। अपने जीवन के सभी व्यवहारों में त्रस जीवों की हिंसा न हो इसके लिये जागृति रखनी चाहिये। जिस प्रवृत्ति से त्रस जीवों की हिंसा हो उस प्रवृत्ति का तथा ऐसे साधनों का त्याग कर देना चाहिये।

पहले के श्रावक महिने में छह पौषध करते थे। महीने में छह दिन काम-धन्धा बन्द कर आत्मविचारण करते थे। महीने में धर्म में रविवार की छुट्टी का जो विधान है, वह भी धर्माराधना के लिये ही किया गया है। रविवार के दिन मनुष्य अपना गोरख-धन्धा छोड़ कर प्रभु-प्रार्थना में लीन रहे. इसी उद्देश्य से रविवार को 'होलीडे' यानी पवित्र दिवस तरीके तय किया गया है। परन्तु आज तो उल्टा हो रहा है। अन्य दिनों की अपेक्षा भी रविवार को अधिक विलासी जीवन व्यतीत किया जा रहा है। खाना-पीना, अच्छे वस्त्र पहिनना, जीमनवार करना, हवा खाने जाना, नाटक सिनेमा देखना आदि प्रवृत्तियों में रविवार का दिन व्यतीत किया जाता है। 'होलीडे' अर्थात् पवित्र दिवस की आज इस तरह होली कर दी जाती है। कहने का आशय यह है कि पौषधव्रत के लिये या आत्म-साधना के लिये महीने में अमुक दिवस निश्चित कर उन्हें आत्म चिन्तन तथा मनन में ही व्यतीत करने चाहिये।

❀ ❀ ❀

गृहस्थ को प्रतिमास, कम से कम एक बार, जब अवकाश या सुभीता हो और मानसिक तथा शारीरिक स्थित अनुकूल हो तब निराहार रहना चाहिए, जिससे शरीर नीरोग और सहनशील बने। इस स्थिति में चौबीस या बारह घण्टे आत्मरमण करते हुए व्यतीत करने चाहिये। इस व्रत के लिये विशेषतः अष्टमी चतुर्दशी या पूर्णिमा रूप पर्व-तिथियाँ अधिक उपयुक्त हैं।

जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वह ममत्व का परित्याग करता है। वास्तव में वही संसार से सच्चा भय खाने वाला मुनि है, जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व-भाव नहीं है।

जैसे कछुआ आपत्ति से बचने के लिये अपने अङ्गों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पण्डित-जन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियाँ आध्यात्मिक ज्ञान से सिकोड़ कर रखें।

जो मनुष्य प्रतिमास लाखों गायें दान में देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी न देने वाले का संयमाचरण श्रेष्ठ है।

सब प्रकार के ज्ञान को निर्मल करने से, अज्ञान और मोह के त्यागने से तथा राग और द्वेष का क्षय करने से एकान्त सुख-स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

सद्‌गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना और चित में धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निःश्रेयस् का मार्ग है।

१२

अतिथि-संविभाग-व्रत

छत पर चढ़ने के लिये सीढ़ियों की आवश्यकता होती है। इसी तरह बारह व्रत भी सीढ़ियों की तरह हैं, जिन पर चढ़ने से चित्तशुद्दि और आत्म-विकास किया जा सकता है। श्रावक के बारह व्रतों में अतिथि संविभाग व्रत बारहवाँ व्रत है—अन्तिम सोपान है।

इस व्रत में मुनिराजों को शुद्ध आहार-पानी आदि वस्तुओं के दान करने का विधान बताया गया है। संयमी पुरुषों की आवश्यक वस्तुओं का दान देने से उनके जैसे पवित्र जीवन का अनुमोदन होता है, और उस पवित्र जीवन के अनुमोदन से दान देने वाले का जीवन भी विकसित होता है। न्यायोपार्जन द्वारा शुद्ध भक्ति-भाव पूर्वक सुपात्र को दान देने से इस व्रत की आराधना की जा सकती है।

ग्यारह व्रतों से यह व्रत एक दृष्टि से बिलकुल भिन्न हो जाता है। ग्यारह व्रतों की आराधना करना जहाँ प्रत्येक मनुष्य के स्वाधीनता की बात है, वहाँ बारहवें व्रत की आराधना उसके स्वाधीन नहीं है—पराधीन है। क्योंकि मुनिराजों की उपस्थिति सदैव एक ही गाँव में रहती है। कदाचित् मुनिराज विराजते भी हों तो

प्रतिदिन एक ही घर से वे आहार लेने नहीं आ सकते हैं। कभी आहार-पानी लेने भी पधारें तो देने वाला 'सूझता' होना चाहिये, निर्दोष होना चाहिये, दी जाने वाली वस्तु निर्दोष होनी चाहिये और मुनिराजों को कल्पनीय भी, साथ में देने वाले की भावना भी उत्कृष्ट होनी चाहिये।

यह सभी बातें होने पर भी लेने वाले मुनिराज सुपात्र होने चाहिये। पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति के आराधक मुनिराज ही सुपात्र माने जाते हैं।

इस प्रकार इस व्रत का महात्म्य बढ़ जाता है। श्रावक जब चाहें सामायिक, पौषध कर सकता है, इसी तरह अन्य व्रतों की आराधना भी स्वतन्त्रतापूर्वक की जा सकती है, परन्तु बारहवाँ व्रत अपने आधीन न होने से इसकी आराधना के लिये विशेष जागृति रखनी चाहिये।

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि 'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।' जो मुनि संविभाग नहीं करते वे मुक्त नहीं हो सकते। यह कथन मुनि जीवन पर लागू पड़ता है। परन्तु गृहस्थों को भी इसका अनुकरण करना चाहिये। मुनि अपने स्वधर्मी के लिये संविभाग कर देने पर ही आहार ले सकता है। इसी तरह गृहस्थ को भी ऐसा नियम रखना चाहिये। जिस मनुष्य को धन प्राप्त हुआ हो, तो उसको उसका संविभाग करना चाहिये–यानी दूसरों को भी उसमें से देना चाहिये। यह नियम धनवानों के ही लिये नहीं है, सब पर लागू पड़ता है। धनवानों की तरह बुद्धिमानों को भी अपनी बुद्धि का संविभाग करना चाहिये। धनवान या बुद्धिमान् अपने धन या बुद्धि का उपयोग केवल स्वार्थ के लिये

ही करे, परमार्थ के लिये उसका संविभाग नहीं करें, तो वे मुक्ति-मार्ग में अपनी प्रगति नहीं कर सकते हैं।

आज के वकील, सोलीसिटर, डाक्टर और इंजीनियर अपनी बुद्धि का संविभाग नहीं करते हैं। कोई मनुष्य सोलीसिटर के पास दो मीनिट बात कर सम्मति लेना चाहे तो उसका भी पच्चीस रुपये का बिल बन जाएगा। डाक्टर से कोई यह पूछ बैठे कि मेरे गले में, कान, नाक, आँख में क्या दर्द है? तो वह इस दर्द के बताने का ही पैसा ले लेता है। मकान का बाँध-काम कैसा हो? यह बनाने के लिये भी इंजिनीयर पैसा ले लेते हैं। यह सब बुद्धि की बिक्री नहीं तो और क्या है?

शिक्षितों को चाहिये कि वे अशिक्षितों के प्रति अपनी बुद्धि का संविभाग करें। जो बलशाली हैं, उन्हें निर्बल की रक्षा कर, संविभाग करना चाहिये। इस तरह जिनके पास धन, बुद्धि, शक्ति या जो कुछ भी हो, उसका संविभाग करना चाहिये। बिना संविभाग के मुक्ति-मार्ग पर प्रगति नहीं की जा सकती है।

पुराने जमाने में हिन्दुस्तान में अतिथि-सत्कार का बड़ा महत्व था। उपनिषदों में आता है 'अतिथि देवो भव'। अतिथि देव की तरह माना जाता था। परन्तु आज वह आर्य संस्कृति धीरे-धीरे विलुप्त होती जा रही है। पुराने समय में अतिथि-प्रेम विशेष देखा जाता था। कोई मनुष्य किसी के यहाँ अतिथि बन कर जाता था, तो उसका बड़ा आदर-सत्कार किया जाता था। साधु-पुरुषों को दान देना तो उच्च कोटि का दान है, परन्तु घर आये साधारण मनुष्य का आदर-सत्कार भी गृहस्थ का धर्म है। किसी को कुछ दे देने से कमी नहीं हो जाती है। किसी को कुछ दे देना तो स्वर्ग की बैंक में रकम जमा करा देने जैसा है। एक विद्वान्

ने ठीक ही कहा है कि—What I gave, I have, what I spent I had, what I kept, I lost. 'मनुष्य जो दान के रूप में देता है, वह उसके पास ही रहता है, जो खर्च कर डालता है, वह एक समय उसके पास ही था, परन्तु अब वह उसके पास नहीं है और जो संचित कर रखा है, वह तो उसे गंवा ही बैठा है।'

सुपात्र दान के तीन प्रकार हैं—उत्कृष्ट सुपात्र दान, मध्यम सुपात्र दान और जघन्य सुपात्र दान। संयमी पुरुषों को दान देना उत्कृष्ट सुपात्र दान है। स्वधर्मी बन्धुओं को दान देना मध्यम सुपात्र दान है। समकिती तथा दीन दुखियों को अनुकम्पा भाव से सहायता देना जघन्य सुपात्र दान है। ये तीनों सुपात्र दान कहे जाते हैं। प्रसंगानुसार तीनों दानों का अवसर सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये।

शुद्ध भावनापूर्वक और शुद्ध वस्तु का दिया गया सुपात्र दान महत्वपूर्ण होता है। हमारे शास्त्रों में ऐसे दान का और उसके परिणाम का कई जगह उल्लेख किया गया है। सुखविपाकसूत्र में सुवाहुकुमार का वर्णन आता है। सुवाहुकुमार भगवान से व्रत अंगीकार कर चले जाते हैं, तब गौतम स्वामी भगवान् से पूछते हैं—'भगवन् ! यह सुवाहुकुमार मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय, सौम्य, वल्लभ और सुन्दर लगता है, दूसरे मनुष्यों को भी ऐसा ही लगता है। तो, हे भगवन् ! सुवाहुकुमार को ऐसी मानव-सम्पत्ति कैसे प्राप्त हुई।'

भववान् ने सुवाहुकुमार के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाते हुए गौतम स्वामी से कहा—हे गौतम ! सुवाहुकुमार ने अपने पूर्व जन्म में सुदत्त नामक महामुनि को मासखमण के पारणे में सुद्ध दान दिया था, उनका बहुत सन्मान किया था, इसी से उसे यह

मानवी-सम्पत्ति प्राप्त हुई है। शुद्ध और सुपात्र दान का ऐसा महत्व शास्त्रों में बताया गया है। अतः सुपात्र संयमी पुरुष को योग मिल जाने पर दान देने की उत्कृष्ट भावना रखना, इस व्रत का उद्देश्य है।

संयमी मुनि को दान देना जीवन का उत्तम लाभ लेना है। दशवैकालिक सूत्र में भगवान् महावीर ने फरमाया है कि—

दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दोवि गच्छंति सुग्गइं॥

सुपात्र में दान देने वाला और लेने वाला दोनों ही दुर्लभ हैं। दोनों को सद्गति की प्राप्ति होती है। दान देने वाले को तो सद्गति की प्राप्ति होती ही है, पर दान देने की शुभ भावना रखने वाले को भी सद्गति की प्राप्ति होती है।

बलभद्र मुनि मासखमण की तपश्चर्या करते थे। उनका शरीर इतना सुन्दर था कि गाँव की स्त्रियाँ देखकर मोहित हो जाती थीं। एक वार एक स्त्री ने जो कि कुएं से पानी भर रही थी, बलभद्र मुनि को मार्ग में जाते हुए देखा। मुनि को देखने में वह इतनी तल्लीन हो गई कि घड़े में बांधने की रस्सी उसने अपने पास खड़े हुए बालक के गले में डाल दी। इस घटना से मुनि बड़े खिन्न हुए और उन्होंने तब से गाँव में आना ही बन्द कर दिया।

एक बार जंगल में इन्हीं मुनि को एक सुनार और उसकी धर्मपत्नी दोनों दान दे रहे थे, एक हिरण ने भी यह देखा और उसने भी मन-ही-मन खुश हो दान का अनुमोदन किया। अकस्मात् उसी समय तेज हवा चली और उससे एक वृक्ष की शाखा टूट कर इन चारों पर गिर पड़ी, उससे मुनि, हिरण, सुनार और

सुनारनी चारों ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। ये सभी मर कर पाँचवें देवलोक में गये।

इस घटना में यही देखने का है कि तपस्वी और संयमी मुनि पाँचवें देवलोक में गये, शुद्ध भाव से दान देने वाले सुनार और सुनारनी भी पाँचवें देवलोक में गये और दान का अनुमोदन करने वाला तथा शुभ भावना रखने वाला हिरण भी उसी गति में गया। अतिथि संविभाग व्रत का इतना अधिक महत्व है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सुपात्र दान देने की भावना प्रतिपल जागृत रखनी चाहिए। साधु साध्वियों का योग न मिलने पर अल्प परिमाण में भी इस व्रत की आराधना करने के लिये भोजन के समय अपने स्वधर्मी भाई-बहनों को याद कर लेना चाहिए। अपने गाँव में मदद करने योग्य कोई भाई-बहन हो तो, उसकी योग्य मदद कर के ही भोजन करने का नियम ले लिया जाय, तो इसका भी कितना अच्छा परिणाम आ सकता है? आप चाहें तो इस तरह भी धर्माराधना कर सकते हैं।

जो धन का उपयोग-भोग विलास में करता है और दान नहीं देता, लक्ष्मी उसके लिये भार रूप हो जाती है। एक विद्वान् ने कहा है कि—

Money spent on myself may become a mill stone about my neck, money spent on o hers may give me the wings like angels. अपने भोग-विलास में खर्च किया गया पैसा चक्की का पाट बन गले में लटक जाता है, जब कि परोपकार में व्यय किया हुआ द्रव्य मनुष्य को देवदूत की तरह पंख लगा देता है।

कहने का आशय यह है विलास में लगाया गया धन मनुष्य को डुबा देता है, जब कि सत्कार्य में व्यय किया गया धन मनुष्य को ऊँचा ले जाता है।

पूणिया श्रावक का नाम आपने सुना होगा। वह रोज हाथ से पूणियाँ बनाता था और न्यायपूर्वक अपनी आवश्यकतानुसार धन का उपार्जन करता था। रोज एक स्वधर्मी बन्धु को खिलाने का भी उसका नियम था।

इसके सिवाय, वे एक दिन उपवास करते और अपने भाग का दूसरे स्वधर्मी भाइयों को खिलाते। दूसरे दिन उनकी धर्मपत्नी उपवास करती और उसके भाग का बचा हुआ भोजन भी वे दूसरे भाइयों को खिलाते थे। इस तरह वे स्वधर्मी-वात्सल्य से इस व्रत की यथाशक्ति आराधना करते थे।

इस व्रत के पाँच अतिचार (दोष) हैं। सचित्तनिक्षेपन, सचित्तपिधान, कालातिक्रम, परव्यपदेश, मात्सर्य। सचित्त वस्तु से काल व्यतीत हो जाने के बाद भिक्षा के लिए निमन्त्रण देना, या वस्तु के खराब हो जाने पर उसका दान देना, नहीं देने की भावना से अपनी वस्तु को पराई कहना अथवा अवज्ञापूर्वक दूसरों से दान दिलाना, मत्सर-ईर्षा-द्वेष-कषाय वश दान देना। ये पाँच अतिचार हैं। इन अतिचारों को त्याग कर शुद्ध व्रत का पालन करने से उदारता का गुण विकसित होता है और उच्च जीवन का अनुमोदन भी होता है।

उपसंहार

भगवान् महावीर स्वामी ने दो प्रकार के धर्म बतलाये हैं—एक साधु का धर्म और दूसरा गृहस्थ का। शास्त्रीय भाषा में इसे अणगार और आगार धर्म कहते हैं।

साधुओं के लिये भगवान् महावीर ने पाँच महाव्रतों का विधान किया है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाँच व्रतों का साधुओं को पूर्ण पालन करना पड़ता है। गृहस्थों के लिये बारह व्रतों का विधान किया है। इन बारह व्रतों में साधु के पाँच महाव्रतों का समावेश भी हो जाता है परन्तु जिन व्रतों का साधु को पूर्णरूप से पालन करना पड़ता है, गृहस्थ उनका ही आंशिक रूप से पालन करता है। क्योंकि गृहस्थ संसारी है। संसारी अवस्था में रहकर पाँच महाव्रतों का पूर्णरूप से पालन करना उसके लिये अशक्य है। अतः इन व्रतों के पालन करने के लिये गृहस्थ आवश्यक छूट रख लेता है।

गृहस्थ के लिये जो बारह व्रत कहे गये हैं उन्हें तीन विभागों में विभक्त कर दिया गया है—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

ये बारह व्रत इतने महत्वपूर्ण हैं कि प्रत्येक मानव यदि इनका पालन करने लग जाय, तो वह अपना जीवन सुखी बना सकता है। इतना ही नहीं, उसका कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन भी सुख रूप हो सकता है, और विश्व के छोटे-बड़े सभी संघर्ष स्वतः ही शान्त हो सकते हैं।

यहाँ एक बात कहनी जरूरी है और वह यह कि इन व्रतों को धारण करने के लिये किसी भी तरह का प्रतिबन्ध नहीं रखा गया है, परन्तु जो एक शर्त रखी गई, इसका यहाँ स्पष्टीकरण कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है।

इन व्रतों को अङ्गीकार करने में जातिभेद का बंधन बाधक नहीं माना गया है। ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, पूर्व का निवासी